सागर जैन-विद्या भारती

भाग-४

(प्रो० सागरमल जैन के शोध लेखों का संकलन)

प्रो० सागरमल जैन

पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी
२००१

पार्श्वनाथ विद्यापीठ ग्रन्थमाला : १२२

प्रधान सम्पादक
प्रो० सागरमल जैन

सागर जैन-विद्या भारती

भाग-४

(प्रो० सागरमल जैन के शोध लेखों का संकलन)

प्रो० सागरमल जैन



पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी
२००१

पार्श्वनाथ विद्यापीठ ग्रन्थमाला सं० – १२२

लेखक	:	प्रो० सागरमल जैन
पुस्तक	:	सागर जैन-विद्या भारती, भाग-४
प्रकाशक	:	पार्श्वनाथ विद्यापीठ, आई०टी०आई० रोड, करौंदी, वाराणसी-२२१००५
दूरभाष संख्या	:	३१६५२१, ३१८०४६
ई-मेल	:	parshwanathvidyapeeth@rediffmail.com
प्रथम संस्करण	:	२००१ ई०
मूल्य	:	१००.०० रुपये मात्र
अक्षर-सज्जा	:	सरिता कम्प्यूटर्स, औरंगाबाद, वाराणसी (फोन नं० ३५९५२१)
मुद्रक	:	वर्द्धमान मुद्रणालय, भेलूपुर, वाराणसी
ISBN	:	81-86715-46-0
©	:	पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी

Pārśwanātha Vidyāpiṭha Series No. 122

Author	:	Prof. Sagarmal Jain
Title	:	Sāgara Jaina-Vidyā Bhārati
Publisher	:	Pārśwanātha Vidyāpiṭha, I.T.I., Road, Karaundi, Varanasi-221005
Telephone No.	:	316521, 318046
e-mail	:	parshwanathvidyapeeth@rediffmail.com
First Edition	:	2001
Price	:	100.00 Rs. only
Type Setting	:	Sarita Computers, Aurangabad, Varanasi. (Phone No. 359521)
Printed at	:	Vardhaman Mudranalaya, Bhelupur, Varanasi-221010

प्रकाशकीय

जैन धर्म-दर्शन के अन्तर्राष्ट्रीय ख्यातिप्राप्त विद्वान् प्रो० सागरमल जैन ने जैन-विद्या के विविध पक्षों पर अपनी लेखनी चलायी है और उसे अपने गम्भीर चिन्तन-मनन एवं प्रामाणिकता के आधार पर नया स्वरूप प्रदान किया है। यही कारण है कि प्रो० जैन के सभी आलेख सार्वकालिक हैं। प्रो० जैन के आलेखों की इसी सार्वकालिकता को दृष्टि में रखते हुए पार्श्वनाथ विद्यापीठ ने सन् १९९३ में उनके आलेखों को सागर जैन-विद्या भारती के रूप में प्रकाशित करने की योजना बनायी। इस क्रम में सागर जैन-विद्या भारती, भाग-१ सन् १९९३ में, भाग-२ सन् १९९५ में तथा भाग-३ सन् १९९७ में प्रकाशित हो चुकी है। सागर जैन-विद्या भारती, भाग-४ उसी योजना की अगली कड़ी के रूप में आप पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करने में अत्यन्त हर्ष का अनुभव हो रहा है। इसमें कुछ आलेख ऐसे हैं जो विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं एवं पुस्तकों की भूमिका के रूप में प्रकाशित हो चुके हैं और कुछ ऐसे हैं जो बिल्कुल नये हैं।

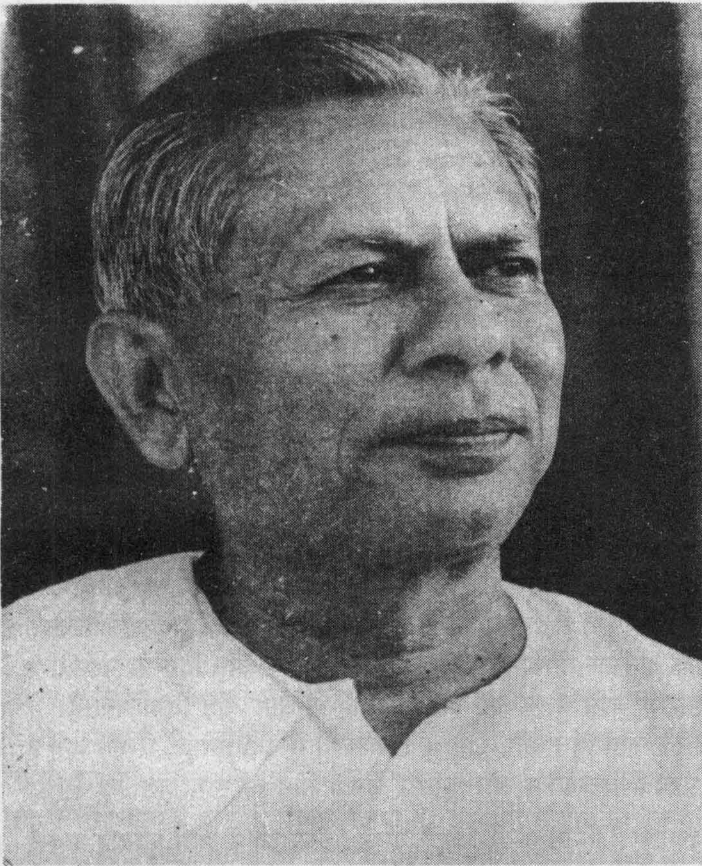
प्रो० जैन के ये शोध-आलेख जैन धर्म-दर्शन, इतिहास, साहित्य आदि विषयों के विविध आयामों पर सशक्त प्रस्तुतियाँ हैं। आशा है शोध-विद्यार्थियों एवं सुधी पाठकों के लिए ये आलेख उपयोगी सिद्ध होंगे।

इस पुस्तक की प्रूफ रीडिंग पार्श्वनाथ विद्यापीठ के प्रवक्ता डॉ० शिवप्रसाद ने की है तथा प्रेस सम्बन्धी कार्यों का दायित्व डॉ० विजय कुमार जैन ने निर्वहन किया है, अतः प्रवक्ताद्वय का मैं हृदय से आभारी हूँ। सुन्दर अक्षर-सज्जा के लिए सरिता कम्प्यूटर एवं सत्वर मुद्रण हेतु वर्द्धमान मुद्रणालय को धन्यवाद देता हूँ।

भूपेन्द्र नाथ जैन
मंत्री
पार्श्वनाथ विद्यापीठ

विषयानुक्रमणिका





जैन विद्या के मूर्धन्य मनीषी

पद्मविभूषण स्व० पं० दलसुखभाई मालवणिया

को

सादर समर्पित

सागरमल जैन

भद्रबाहु सम्बन्धी कथानकों का समीक्षात्मक अध्ययन

चरम श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु जैनधर्म की सभी परम्पराओं के द्वारा मान्य रहे हैं। कल्पसूत्र स्थविरावलि के प्राचीनतम उल्लेख से लेकर परवर्ती ग्रन्थों के सन्दर्भों के आधार पर उनके व्यक्तित्व और कृतित्व को लेकर आधुनिक युग में पर्याप्त उहापोह या विचार-विमर्श हुआ है, किन्तु उनके जीवनवृत्त और कृतित्व के सम्बन्ध में ईसा पूर्व से लेकर ईसा की पन्द्रहवीं शती तक लिखित विभिन्न ग्रन्थों में जो भी उल्लेख प्राप्त होते हैं, उनमें इतना मत वैभिन्य है कि सामान्य पाठक किसी समीचीन निष्कर्ष पर पहुँच नहीं पाता है। भद्रबाहु के चरित्र लेखकों ने उनके सम्बन्ध में जो कुछ लिखा है, वह अनुश्रुतियों एवं स्वैर कल्पनाओं का ऐसा मिश्रण है, जिसमें से सत्य को खोज पाना एक कठिन समस्या है। आर्य भद्र या भद्रबाहु नामक विविध आचार्यों के सम्बन्ध में जो कुछ अनुश्रुति से प्राप्त हुआ, उसे चतुर्दश पूर्वधर और द्वादशांगी के ज्ञाता श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार भगवान् महावीर के सप्तम पट्टधर और दिगम्बर परम्परा के अनुसार अष्टम पट्टधर चरम श्रुतकेवली आर्य भद्रबाहु के साथ जोड़ दिया गया है। यही कारण है कि उनके जीवनवृत्त और कृतित्व के सम्बन्ध में एक भ्रमपूर्ण स्थिति बनी हुई है और अनेक परवर्ती घटनाक्रम और कृतियाँ उनके नाम के साथ जुड़ गई हैं।

ज्ञातव्य है कि श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्पराओं में आर्य भद्रबाहु अथवा आर्यभद्र नामक अनेक आचार्य हुए हैं। परवर्ती लेखकों ने नाम साम्य के आधार पर उनके जीवन के घटनाक्रमों और कृतित्व को भी चरम श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु के साथ जोड़ दिया। मात्र यही नहीं, कहीं-कहीं तो अपनी साम्प्रदायिक मान्यताओं को परिपुष्ट करने के लिये स्व कल्पना से प्रसूत अंश भी उनके जीवनवृत्त के साथ मिला दिये गये हैं। इस सम्बन्ध में आचार्य हस्तीमल जी ने अपने ग्रन्थ **'जैन धर्म का मौलिक इतिहास'** भाग २, पृष्ठ ३२७ पर जो कुछ लिखा है, वह निष्पक्ष एवं तुलनात्मक दृष्टि से इतिहास के शोधार्थियों के लिये विचारणीय है।

वे लिखते हैं— "भद्रबाहु के जीवन-चरित्रविषयक दोनों परम्पराओं के ग्रन्थों का समीचीनतया अध्ययन करने से एक बड़ा आश्चर्यजनक तथ्य प्रकट होता है कि न श्वेताम्बर परम्परा के ग्रन्थों में आचार्य भद्रबाहु के जीवन चरित्र के सम्बन्ध में मतैक्य है और न दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थों में ही। भद्रबाहु के जीवन सम्बन्धी दोनों परम्पराओं

के विभिन्न ग्रन्थों को पढ़ने से एक निष्पक्ष व्यक्ति को स्पष्ट रूप से ऐसा प्रतीत होता है कि सम्भवत: दोनों परम्पराओं के अनेक ग्रन्थों में भद्रबाहु नाम वाले दो-तीन आचार्यों के जीवन-चरित्रों की घटनाओं को गड्ड-मड्ड करके अन्तिम चतुर्दश पूर्वधर आचार्य भद्रबाहु के जीवन चरित्र के साथ जोड़ दिया गया है। पश्चाद्वर्ती आचार्यों द्वारा लिखे गये कुछ ग्रन्थों का, उनसे पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा लिखित ग्रन्थों के साथ तुलनात्मक अध्ययन करने पर स्पष्टरूपेण आभासित होता है कि भद्रबाहु के चरित्र में पश्चाद्वर्ती आचार्यों ने अपनी कल्पनाओं के आधार पर कुछ घटनाओं को जोड़ा है। उन्होंने ऐसा अपनी मान्यताओं के अनुकूल वातावरण बनाने के अभिप्राय से किया अथवा और किसी अन्य दृष्टि से किया, यह निर्णय् तो तुलनात्मक अध्ययन के पश्चात् पाठक स्वयं ही निष्पक्ष बुद्धि से कर सकते हैं।''[१]

आचार्य भद्रबाहु के जीवनवृत्त एवं उनके नाम से प्रचलित कृतियों के सम्बन्ध में समीक्षात्मक दृष्टि से अध्ययन करने का श्रेय जिन पाश्चात्य भारतीयविद्या-विदों को जाता है उनमें प्रोफेसर हर्मन जाकोबी प्रथम हैं। उन्होंने सर्वप्रथम यह प्रतिपादित किया कि पाइन्न (प्राच्य) गोत्रीय श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु को निर्युक्तियों का कर्त्ता मानना भ्रान्ति है, क्योंकि निर्युक्तियाँ वीर निर्वाण संवत् ५८४ से ६०९ के बीच रचित हैं जबकि श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु तो वीर निर्वाण संवत् १६२ (दिगम्बर मान्यता) अथवा वीर निर्वाण संवत् १७० (श्वेताम्बर मान्यता) में स्वर्गस्थ हो चुके थे।[२] इस सम्बन्ध में समीक्षात्मक दृष्टि से जिन भारतीय विद्वानों ने चिन्तन किया है उनमें मुनि श्री पुण्यविजयजी, मुनि श्री कल्याणविजयजी, पं० सुखलालजी, पं० दलसुखभाई, आचार्य हस्तीमल जी, आचार्य महाप्रज्ञजी, साध्वीवर्या संघमित्राजी आदि प्रमुख हैं। दिगम्बर परम्परा के विद्वान् डॉ० राजाराम जी ने भी रइधूकृत भद्रबाहु चरित्र (पन्द्रहवीं शती) की भूमिका में समीक्षात्मक दृष्टि से विचार किया है, फिर भी उन्होंने अपनी दृष्टि को दिगम्बर स्रोतों को प्रामाणिक मानते हुए उन्हीं पर विशेष रूप से केन्द्रित रखा है, जबकि आचार्य हस्तीमल जी, मुनिश्री कल्याणविजयजी और साध्वी संघमित्राजी ने दोनों परम्परा के मूलस्रोतों का अध्ययन कर अपना समीक्षात्मक चिन्तन प्रस्तुत किया है।

विशेष रूप से निर्युक्तियों के कर्त्ता के प्रश्न को लेकर प्रो०हर्मन जाकोबी, मुनि पुण्यविजय जी, आचार्य हस्तीमलजी, आचार्य महाप्रज्ञ जी, समणी कुसुमप्रज्ञा जी एवं स्वयं मैंने भी समीक्षात्मक विवेचन प्रस्तुत किये हैं, इनमें समणी कुसुमप्रज्ञाजी को छोड़कर शेष सभी इस सम्बन्ध में एकमत हैं कि निर्युक्तियाँ प्राच्य गोत्रीय आचार्य भद्रबाहु की कृतियाँ नहीं हैं। किन्तु वे किसकी कृतियाँ हैं इस सम्बन्ध में इन सभी के बीच भी मतवैभिन्य है। इसकी विस्तृत चर्चा हम आगे भद्रबाहु के कृतित्व के सम्बन्ध में विचार करते समय करेंगे।

आचार्य भद्रबाहु का जीवनवृत्त

श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु प्रथम के दीक्षा पर्याय के पूर्व के जीवन-वृत्त के सम्बन्ध में प्राचीन आगमिक प्रमाण प्रायः अनुपलब्ध हैं। कल्पसूत्र एवं नन्दीसूत्र की स्थविरावली में उनका जो निर्देश मिलता है, उसमें कल्पसूत्र में उनके गुरु के रूप में यशोभद्र का, शिष्यों के रूप में गोदास, अग्निदत्त, जिनदत्त और सोमदत्त का उल्लेख है। साथ ही भद्रबाहु के शिष्य गोदास से गोदासगण प्रारम्भ होने और उसकी ताम्रलिप्तिका, कोटिवर्षीया, पौण्ड्रवर्द्धनिका और दासीखर्बटिका नामक चार शाखाएँ होने का निर्देश है।[३] यहाँ उनके गृही जीवन से सम्बन्धित दो ही तथ्य उपलब्ध होते हैं— एक तो यह कि उनका गोत्र पाइन्न था, क्योंकि कल्पसूत्र, नन्दीसूत्र और दशाश्रुतस्कन्धनिर्युक्ति तीनों में ही उनके गोत्र को 'पाइन्न' कहा गया है। इस उल्लेख की प्रामाणिकता के सम्बन्ध में कोई भी शंका नहीं की जा सकती है क्योंकि उपलब्ध सूचनाओं में ये निर्देश प्राचीनतम और सभी ईसा की पांचवीं शती के पूर्व के हैं फिर भी **'पाइन्न'** का जो अर्थ पूर्ववर्ती और परवर्ती आचार्यों एवं विद्वानों ने किया है वह मुझे समुचित प्रतीत नहीं होता है। प्रायः सभी ने इसका संस्कृत रूपान्तरण 'प्राचीन' माना है जिसका अर्थ पुरातन होता है और इसी आधार पर आचार्य हस्तीमल जी ने तो यह सिद्ध करने का भी प्रयत्न किया है कि "किसी परवर्ती भद्रबाहु की अपेक्षा पूर्ववर्ती होने से उन्हें प्राचीन कहा गया है।"[४] किन्तु मेरी दृष्टि में 'पाइन्न' का अर्थ पौर्वात्य अर्थात् प्राची या पूर्व दिशा का निवासी करना चाहिये। मध्यप्रदेश के ब्राह्मणों में आज भी औदीच्य नामक एंक वर्ग है जो अपने को पूर्व दिशा से आया हुआ मानता है। सरयूपारी, पुरवइयां आदि भी पौर्वात्य ब्राह्मण जातियाँ हैं इससे यह भी फलित होता है— भद्रबाहु भारत के अथवा बिहार के पूर्वीय प्रदेश बंगाल के निवासी थे। उनकी शिष्य परम्परा में कोटिवर्षीया, पौण्ड्रवर्धनिका और ताम्रलिप्तिका आदि जो शाखाएँ बनी हैं वे उन्हीं नगरों के नाम पर हैं, जो बंगाल में विशेष रूप से उसके पूर्वी भाग में स्थित थे, अतः भद्रबाहु के पाइन्नं नामक गोत्र का फलितार्थ यह है कि वे पौर्वात्य ब्राह्मण थे।

भद्रबाहु के जन्म-स्थान को लेकर उनसे सम्बन्धित परवर्ती कथानकों में वैविध्य एवं विसंवाद की स्थिति है। कल्पसूत्र, नन्दीसूत्र, दशाश्रुतस्कंध की निर्युक्ति, तित्थोगालीपइन्ना, गच्छाचारपइन्ना आदि प्राचीन स्तर के श्वेताम्बर ग्रन्थों में उनके जन्म स्थान का कोई उल्लेख नहीं है। परवर्ती श्वेताम्बर ग्रन्थों— गच्छाचार की दोघट्टीवृत्ति और प्रबन्धकोश[५] में उन्हें प्रतिष्ठानपुर (वर्तमान पैठन, महाराष्ट्र) का निवासी बताया है। प्रबन्धचिन्तामणि में यद्यपि भद्रबाहु के निवास स्थान का तो कोई उल्लेख नहीं है— किन्तु उनके तथाकथित भाई वराहमिहिर को पाटलिपुत्र का निवासी कहा गया है।[६] ज्ञातव्य है कि प्रतिष्ठानपुर जहाँ दक्षिण महाराष्ट्र में है, वहाँ पाटलीपुत्र (पटना) उत्तर बिहार में है इस प्रकार जन्म स्थान को लेकर श्वेताम्बर स्रोतों में विप्रतिपत्ति है। दिगम्बर

परम्परा के ग्रन्थ भावसंग्रह में उन्हें उज्जैन के साथ जोड़ा गया है।[७] पुन्नाटसंघीय यापनीय हरिषेण ने अपने ग्रन्थ बृहत्कथाकोष (ई॰ ९३२) में भद्रबाहु के जीवनवृत्त का उल्लेख किया है— उनके अनुसार प्राचीन काल में पुण्ड्रवर्धन राज्य के कोटिपुर नगर में (देवकोट्ट) में राजपुरोहित सोमशर्मा की धर्मपत्नी सोमश्री की कुक्षि से भद्रबाहु का जन्म हुआ। किन्तु उन्होंने भी इस कोटिपुर को उर्ज्जयन्त पर्वत (गिरनार) के मार्ग में कहीं गुजरात में स्थित मान लिया है— जो भ्रान्ति है।[८] वस्तुत: यह कोटिपुर न होकर कोटिवर्ष था, जो बंगाल में पुण्डवर्धन के समीप स्थित रहा होगा। कोटिवर्ष के भद्रबाहु के जन्म स्थान होने की सम्भावना हमें सत्य के निकट प्रतीत होती है, क्योंकि आगमों में भद्रबाहु के शिष्य गोदास से प्रारम्भ हुए गोदासगण की दो शाखाओं का नाम कोटिवर्षीया और पौण्ड्रवर्धनिका के रूप में उल्लिखित है। रत्ननंदी ने अपने भद्रबाहुकथानक में जन्म-स्थान और माता-पिता के नाम आदि के सम्बन्ध में प्राय: हरिषेण का ही अनुसरण किया है। रइधू ने अपने भद्रबाहुकथानक में माता-पिता और राजा आदि के नाम तो वही रखे किन्तु कोटिपुर को कउत्तुकपुर (कौतुकपुर) कर दिया है।[९]

जन्म-स्थल एवं निवास क्षेत्र के इन समस्त उल्लेखों की समीक्षा करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि वस्तुत: पाइन्न गोत्रीय श्रुतकेवली भद्रबाहु का जन्म-स्थल पौण्ड्रवर्धन देश का कोटिवर्ष नगर ही रहा है, किन्तु हरिषेण ने उसे जो गुजरात में स्थित माना, वह भ्रान्तिपूर्ण है। वस्तुत: यह नगर बंगदेश के उत्तर-पूर्व में और चम्पा (आधुनिक भागलपुर) से दक्षिण-पूर्व में लगभग १०० किलोमीटर की दूरी पर स्थित था। श्वेताम्बर आचार्यों ने प्रबन्धकोश आदि में जो उसे प्रतिष्ठानपुर से समीकृत किया है, वह भी भ्रान्त है। उसका सम्बन्ध नैमित्तिक भद्रबाहु, जो वराहमिहिर के भाई थे, से तो हो सकता है, किन्तु श्रुतकेवली भद्रबाहु से नहीं हो सकता है।

जहाँ तक भद्रबाहु के विचरण क्षेत्र का प्रश्न है— श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार उनका विचरण क्षेत्र उत्तर में नेपाल के तराई प्रदेश से लेकर दक्षिण बंगाल के ताम्रलिप्ति तक प्रतीत होता है। उनके द्वारा १२ वर्ष तक नेपाल की तराई में साधना करने का उल्लेख तित्थोगालीपइन्ना (तीर्थोद्‌गालिक प्रकीर्णक-लगभग ५वीं-६ठी शती) एवं आवश्यक चूर्णी (७वीं शती) आदि अनेक श्वेताम्बर स्रोतों में प्राप्त होता है।[१०] यद्यपि दिगम्बर स्रोतों से इस सम्बन्ध में कोई सङ्केत उपलब्ध नहीं होता है, फिर भी इसकी प्रामाणिकता सन्देहास्पद नहीं लगती है।

जहाँ तक उनकी दक्षिण यात्रा का प्रश्न है— इस सम्बन्ध में श्वेताम्बर स्रोत प्राय: मौन हैं, दिगम्बर स्रोतों में भी अनेक विप्रतिपत्तियाँ हैं। भावसंग्रह में आचार्य विमलसेन के शिष्य देवसेन ने श्वेताम्बर मत की उत्पत्ति के प्रसङ्ग में निमित्तशास्त्र के पारगामी आचार्य भद्रबाहु द्वारा उज्जयिनी में बारहवर्षीय दुष्काल की भविष्यवाणी का उल्लेख किया है,

जिसके परिणामस्वरूप अनेक गणनायकों ने अपने-अपने शिष्यों के साथ विभिन्न प्रदेशों में विहार किया। शान्ति नामक आचार्य सौराष्ट्र देश के वल्लभी नगर पहुँचे— जहाँ विक्रम की मृत्यु के १३६ वर्ष पश्चात् श्वेताम्बर संघ की उत्पत्ति हुई।[११] इस प्रकार इस कथानक में भद्रबाहु के दक्षिण देश में बिहार का और चन्द्रगुप्त की दीक्षा का कोई उल्लेख नहीं है। पुन: इसमें जिन नैमित्तिक भद्रबाहु का उल्लेख है उनका सत्ता काल विक्रम की दूसरी शताब्दी मान लिया गया है जो भ्रान्त प्रतीत होता है। आचार्य हरिषेण के बृहत्कथाकोश में भद्रबाहु द्वारा बारह वर्षीय दुष्काल की भविष्यवाणी करने, उज्जयिनी के राजा चन्द्रगुप्त द्वारा दीक्षा ग्रहण कर भद्रबाहु से दस पूर्वों का अध्ययन करने तथा विशाखाचार्य के नाम से दक्षिणापथ के पुन्नाट देश (कर्नाटक) जाने और रामिल्ल, स्थूलाचार्य और स्थूलिभद्र के सिन्धु-सौवीर देश जाने का निर्देश किया है, किन्तु उन्होंने आचार्य भद्रबाहु द्वारा उज्जयिनी के समीपवर्ती भाद्रपद देश (सम्भवत: वर्तमान मन्दसौर का समीपवर्ती प्रदेश) में अनशन करने का उल्लेख किया है।[१२]

इस प्रकार न केवल श्वेताम्बर स्रोतों में अपितु हरिषेण के बृहत्कथाकोश,[१३] श्रीचन्द्र के अपभ्रंश भाषा के ग्रन्थ कहाकोसु (वि० १२वीं शती) और देवसेन के भावसंग्रह में भी भद्रबाहु के दक्षिण देश जाने का कोई उल्लेख नहीं है। बृहत्कथाकोश आदि में उनके शिष्य विशाखाचार्य के दक्षिण देश में जाने का उल्लेख है,[१४] किन्तु स्वयं उनका नहीं। उनके स्वयं दक्षिण देश में जाने के जो उल्लेख मिलते हैं वे रामचन्द्र मुमुक्षु के पुण्यास्रवकथाकोश[१५] (१२वीं शती), रइधू के भद्रबाहुकथानक[१६] (१५वीं शती) और रत्ननंदी के भद्रबाहुचरित्र[१७](१६वीं शती) के हैं। इनमें भी जहाँ पुण्यास्रवकथाकोश में उनके मगध से दक्षिण जाने का उल्लेख है, वही रत्ननंदी के भद्रबाहुचरित्र में अवन्तिका से दक्षिण जाने का उल्लेख है। इन विप्रतिपत्तियों को देखते हुए ऐसा लगता है कि ये कथानक १०वीं से १६वीं शती के मध्य रचित होने से पर्याप्त रूप से परवर्ती हैं और अनुश्रुतियों या लेखक की निजी कल्पना पर आधारित होने से काल्पनिक ही अधिक लगते हैं। यद्यपि डॉ० राजरामजी ने इसका समाधान करते हुए यह लिखा है कि 'यह बहुत सम्भव है कि आचार्य भद्रबाहु अपने विहार में मगध से दुष्काल प्रारम्भ होने के कुछ दिन पूर्व चले हों और उच्छकल्प (वर्तमान-उचेहरा, जो उच्चैर्नागर शाखा का उत्पत्ति स्थल भी है) होते हुए उज्जयिनी और फिर वहाँ से दक्षिण की ओर स्वयं गये हों या स्वयं वहाँ रुककर अपने साधु-सन्तों को दक्षिण की ओर जाने का आदेश दिया हो।[१८] किन्तु मेरी दृष्टि में जब मगध से पूर्वी समुद्रीतट से ताम्रलिप्ति होते हुए दक्षिण जाने का सीधा मार्ग था तो फिर दुष्कालयुक्त मध्य देश से उज्जयिनी होकर दक्षिण जाने का क्या औचित्य था?, यह समझ में नहीं आता।

मेरी दृष्टि में इन कथानकों में सम्भावित सत्य यही है कि चाहे दुष्काल की परिस्थिति में भद्रबाहु ने अपने मुनि संघ को दक्षिण में भेजा हो किन्तु वे स्वयं तो मगध में या

नेपाल की तराई में ही स्थित रहे। क्योंकि वहाँ उनकी ध्यान साधना के जो निर्देश हैं वे तित्थोगाली[१९] (लगभग ५वीं शती) और चूर्णि साहित्य[२०] (लगभग ७वीं शती) के होने से इन कथानकों की अपेक्षा न केवल प्राचीन हैं, अपितु प्रामाणिक भी लगते हैं। पुन: ध्यान साधना का यह उल्लेख बारह वर्षीय दुष्काल के पश्चात् पाटलिपुत्र की स्थूलिभद्र की वाचना के समय का है, अत: श्रुतकेवली भद्रबाहु के दक्षिण जाने के उल्लेख प्रामाणिक नहीं हैं। इसमें सत्यांश केवल इतना ही प्रतीत होता है कि भद्रबाहु तो अपनी वृद्धावस्था के कारण उत्तर भारत के मगध एवं तराई प्रदेश में स्थित रहे, किन्तु उन्होंने अपने शिष्य परिवार को अवश्य दक्षिण में भेजा था।

निर्ग्रन्थ मुनिसंघ की लंका एवं तमिल प्रदेश में ई०पू० में उपस्थिति के अभिलेखीय एवं बौद्ध साहित्य के संकेत भी इस तथ्य की पुष्टि करते हैं।[२१] पुन: वड्डमाणु (आन्ध्र प्रदेश) में हुई खुदाई में गोदासगण का अभिलेखीय साक्ष्य[२२] भी इस तथ्य की पुष्टि अवश्य करता है कि भद्रबाहु की शिष्य परम्परा या तो ताम्रलिप्ति से जलमार्ग द्वारा या फिर बंगाल और उड़ीसा के स्थलमार्ग से आन्ध्रप्रदेश होकर लंका एवं तमिलनाडु पहुँची थी।

यहाँ इसी प्रसंग में श्रवणबेलगोला स्थित चन्द्रगिरि पर्वत एवं पार्श्वनाथ वसति के अभिलेखों की प्रामाणिकता की चर्चा करना भी अपेक्षित है। श्रवणबेलगोला के चन्द्रगिरि पर्वत पर शक संवत् ५७२ अर्थात् विक्रम संवत् ७०७ ईस्वी सन् ६५० का शिलालेख है[२३] उसमें भद्रबाहु और चन्द्रगुप्त के उल्लेख हैं। जहाँ तक चन्द्रगिरि के अभिलेख का प्रश्न है, उसमें न तो भद्रबाहु को श्रुतकेवली कहा है और न चन्द्रगुप्त को मौर्यवंशीय। अत: यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उत्पन्न होता है कि इसमें उल्लेखित भद्रबाहु को श्रुतकेवली भद्रबाहु और चन्द्रगुप्त को चन्द्रगुप्त मौर्य माना जाये या भद्रबाहु को वराहमिहिर के भाई भद्रबाहु और चन्द्रगुप्त को चन्द्रगुप्त नामक कोई गुप्तवंशीय राजा माना जाये।

पार्श्वनाथवसति के इससे भी ५० वर्ष पूर्व शक संवत् ५३३ या ई० सन् ६०० के एक अभिलेख में स्पष्ट रूप से श्रुतकेवली भद्रबाहु और नैमित्तिक भद्रबाहु ऐसे दो भद्रबाहु का उल्लेख है।[२४] इसमें श्रुतकेवली भद्रबाहु के पश्चात् विशाख आदि सात आचार्यों का उल्लेख करके फिर गुरु परम्परा के क्रम से भद्रबाहु स्वामी का उल्लेख है और उनके आदेश से सर्वसंघ का उज्जैन से दक्षिण पथ जाने का निर्देश है— इससे ऐसा प्रतीत होता है, ये भद्रबाहु वराहमिहिर के भाई नैमित्तिक भद्रबाहु होंगे। वराहमिहिर के पंचसिद्धान्तिका नामक ग्रन्थ की प्रशस्ति के आधार पर उनका काल शक संवत् ४३७। ई० सन् ५०५। विक्रम सं० ५६२ सिद्ध होता है[२५] अत: ये अभिलेखीय उल्लेख नैमित्तिक भद्रबाहु से सम्बन्धित हो सकते हैं और इसमें उल्लेखित चन्द्रगुप्त, चन्द्रगुप्त

मौर्य न होकर चन्द्रगुप्त नामक कोई अन्य राजा होगा। अभिलेखों एवं नैमित्तिक भद्रबाहु की कालिक समानता भी इसका प्रमाण है।

ज्ञातव्य है कि रइधू ने अपने भद्रबाहुचरित्र में जिस चन्द्रगुप्त के भद्रबाहु से दीक्षित होने की बात कही है उसे चन्द्रगुप्त मौर्य न मानकर उसके पौत्र अशोक का पौत्र बताया है।[२६] कुछ दिगम्बर विद्वानों ने इसकी पहचान सम्प्रति से की है, किन्तु न तो सम्प्रति का नाम चन्द्रगुप्त था— ऐसा कोई प्रमाण मिलता है और न श्रुतकेवली भद्रबाहु से अशोक के पौत्र चन्द्रगुप्त की समकालिकता ही सिद्ध होती है। अत: इस कथानक में स्वैर कवि-कल्पना ही अधिक परिलक्षित होती है।

श्वेताम्बर प्रबन्धों में भी नैमित्तिक भद्रबाहु को प्रतिष्ठानपुर (पैठण—दक्षिण महाराष्ट्र) का निवासी माना गया है। अत: इनका सम्बन्ध दक्षिण में कर्नाटक की यात्रा से हो सकता है। पुन: श्रुतकेवली भद्रबाहु के सम्बन्ध में ये अभिलेख इसलिये भी प्रामाणिक नहीं लगते हैं कि ये उनके स्वर्गवास से एक हजार वर्ष बाद के हैं, अत: श्रुतकेवली भद्रबाहु के सम्बन्ध में इनकी प्रामाणिकता एक अनुश्रुति से अधिक नहीं मानी जा सकती है। हाँ, यदि ये नैमित्तिक भद्रबाहु से सम्बन्धित हैं तो इनकी प्रामाणिकता एवं विश्वसनीयता काफी बढ़ जाती है क्योंकि दोनों के काल में मात्र १५० वर्ष का अन्तर है। इस चर्चा से यह भी ज्ञात हो जाता है कि श्रुतकेवली भद्रबाहु और नैमित्तिक भद्रबाहु में लगभग ८०० वर्षों का लम्बा अन्तराल है।

श्वेताम्बर परम्परा के ग्रन्थों में श्रुतकेवली भद्रबाहु के कार्यों में उनके द्वारा महाप्राण नामक ध्यान की साधना करने एवं स्थूलिभद्र को १४ पूर्वों की वाचना देने की सम्पूर्ण घटना का विवरण आवश्यकनिर्युक्ति (लगभग ३री शती) एवं तित्थोगालीपइण्णा[२७] (तीर्थोद्गालिक प्रकीर्णक—लगभग ५वीं शती) में मिलता है। संक्षेप में, द्वादशवर्षीय दुष्काल के बाद श्रमण संघ पाटलीपुत्र में एकत्रित हुआ। अंग साहित्य को व्यवस्थित करने हेतु आगमों की इस प्रथम वाचना का आयोजन हुआ— उसमें ग्यारह अंगों का पुन: संकलन किया गया किन्तु दृष्टिवाद एवं पूर्वों का संकलन नहीं हो सका, क्योंकि उस वाचना में इनको सम्पूर्ण रूप से जानने वाला कोई भी श्रमण उपस्थित नहीं था। उस समय दृष्टिवाद और १४ पूर्वों के सम्पूर्ण ज्ञाता मात्र भद्रबाहु ही थे जो नेपाल में महाप्राण ध्यान की साधना कर रहे थे। श्रमण संघ के प्रतिनिधि के रूप में कुछ मुनि पाटलीपत्तन (पटना) से नेपाल की तराई में गये और उनसे वाचना देने की प्रार्थना की, भद्रबाहु ने अपनी ध्यान साधना में विघ्न रूप मानकर वाचना देने से इन्कार कर दिया। वाचना देने से इन्कार करने पर संघ द्वारा बहिष्कृत करने/सम्भोग विच्छेद रूप दण्ड का निर्देश देने के कारण वे पुन: वाचना देने में सहमत होते हैं। स्थूलिभद्र के साथ कुछ मुनि वाचना लेने जाते हैं, प्रारम्भ में वाचना मंथर गति से चलती है। स्थूलिभद्र को छोड़कर शेष मुनि संघ निराश होकर लौट आता है। स्थूलिभद्र की दस पूर्वों की

वाचना की पूर्णता पर यक्षा आदि उनकी बहनों का आना—उनके द्वारा सिंह का रूप बनाना—उनके इस व्यवहार से खिन्न होकर भद्रबाहु का वाचना देने से इंकार करना, अत्यधिक विनय करने पर, शेष चार पूर्वों की शब्द रूप से वाचना देना— आदि कुछ घटनायें वर्णित हैं, जिनकी सूचना अनेक श्वेताम्बर स्रोतों में प्राय: समान रूप से प्राप्त होती है। किन्तु ये सभी स्रोत भी ईसा की तीसरी-चौथी सदी से पूर्व के नहीं हैं अर्थात् पाँच सौ वर्षों के पश्चात् लिपिबद्ध हुए हैं। फिर भी स्थूलिभद्र के सिंह रूप की विकुर्वणा के अतिरिक्त इसमें ऐसा कुछ भी नहीं है, जिनकी प्रामाणिकता पर प्रश्न चिह्न लगाया जा सके। इस सम्पूर्ण विवरण से जो मुख्य बातें उभर कर सामने आती हैं, वे निम्न हैं— वाचना के समय भद्रबाहु अपनी वृद्धावस्था के कारण अपनी वैयक्तिक साधना को ही महत्त्वपूर्ण मानकर अनुपस्थित रहे। हो सकता है कि संघीय कार्यों के प्रति उनकी इस अन्यमनस्कता के कुछ अन्य भी कारण हों। स्थूलिभद्र भी उन्हें अपने व्यवहार से पूर्ण सन्तुष्ट नहीं कर सके, फलत: उन्हें दी जाने वाली वाचना भी मध्य में १० पूर्वों के बाद रोक दी गई।

ज्ञातव्य है कि दिगम्बर स्रोतों में इस आगम-वाचना का कोई निर्देश नहीं है। इसके स्थान पर दिगम्बर स्रोत आचार के प्रश्नों पर, विशेष रूप से वस्त्र-पात्र-कम्बल सम्बन्धी विवाद के आधार पर श्वेताम्बर और यापनीय परम्पराओं के उद्भव की बात करते हैं। यद्यपि इस सम्बन्ध में दिगम्बर स्रोतों में जो विप्रतिपत्तियाँ हैं उसकी चर्चा तो मैं बाद में करूँगा किन्तु इतना दृढ़तापूर्वक कहा जा सकता है कि श्रुतकेवली भद्रबाहु के काल में श्वेताम्बर, दिगम्बर और यापनीय सम्प्रदायों के रूप में स्पष्ट संघ-भेद नहीं हुआ था— क्योंकि श्वेताम्बर (श्वेतपट्ट), दिगम्बर (निर्ग्रन्थ), यापनीय एवं कूर्चक आदि सम्प्रदायों के अस्तित्व सम्बन्धी जो भी साहित्यिक एवं अभिलेखीय प्रमाण मिलते हैं, वे सभी ईसा की चतुर्थ एवं पंचम शताब्दी से ही मिलते हैं। साहित्यिक स्रोतों में सर्वप्रथम विमलसूरि के 'पउमचरियं' में सियम्बर/सियम्बरा शब्द मिलता है।[२८] इसमें सीता को दीक्षित अवस्था में सियम्बरा और एक अन्य प्रसंग में एक मुनि को सियम्बर कहा गया है। यह मात्र एक विशेषण है या सम्प्रदाय भेद का सूचक है, यह निर्णय कर पाना कठिन है। सम्प्रदाय भेद के रूप में इन शब्दों का सर्वप्रथम प्रयोग हल्सी (धारवाड़-उत्तरी कर्णाटक) के अभिलेख में मिलता है,[२९] जो ईसा की पाँचवी शती का है। इस अभिलेख में निर्ग्रन्थ, श्वेतपट्ट, यापनीय, कूर्चक ऐसे चार जैन सम्प्रदायों का उल्लेख है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि स्पष्ट संघ भेद ईसा की पांचवी शती की घटना है जिसका सम्बन्ध चाहे किसी रूप में नैमित्तिक भद्रबाहु से तो हो सकता है किन्तु श्रुतकेवली भद्रबाहु से कदापि नहीं है। इसका यह अर्थ भी नहीं है कि दिगम्बर स्रोतों में जो वस्त्र-पात्र विवाद की सूचना है, वह पूर्णत: निःस्सार है। दिगम्बर परम्परा के भद्रबाहु सम्बन्धी कथानकों में संघ भेद सम्बन्धी जो घटनाक्रम वर्णित हैं उसमें कितना सत्यांश है, यह समझने के लिये पहले इनकी समीक्षा कर लेनी होगी।

दिगम्बरों के मान्य साहित्य में यतिवृषभ की तिलोयपण्णति (५-६ शती) में भद्रबाहु का निर्देश तो है,[३०] किन्तु उसमें ऐसा कोई उल्लेख नहीं है, जो यह बताता हो कि श्वेताम्बर एवं यापनीय परम्पराओं की उत्पत्ति कैसे हुई? सर्वप्रथम हरिषेण के बृहत्कथाकोश (दसवी शती) में एवं विमलसेन के शिष्य देवसेन के भावसंग्रह (लगभग दसवीं शती) में श्वेताम्बर मत की उत्पत्ति की कथा को भद्रबाहु के कथानक के साथ जोड़ दिया गया है,[३१] किन्तु इसमें काल सम्बन्धी विसंगति स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है। एक ओर इसमें भद्रबाहु के शिष्य शान्त्याचार्य के द्वादशवर्षीय दुष्काल में वल्लभी जाने और वहाँ जाकर कम्बल, पात्र, दण्ड एवं श्वेत वस्त्र ग्रहण करने का निर्देश है। साथ ही इस कथा में यह भी कहा गया है कि सुकाल होने पर शान्त्याचार्य द्वारा वस्त्रादि के त्याग का निर्देश देने पर उनके शिष्य (जिनचन्द्र) ने उनको मार डाला। उसके बाद वह शान्त्याचार्य व्यंतर योनि में उत्पन्न होकर शिष्यों को पीड़ा देने लगा। शिष्यों द्वारा उनकी प्रतिदिन पूजा (शान्ति स्नात्र) करने और काष्ठपट्टिका पर अंकित उनके चरण सदा साथ रखने का वचन देने पर वह व्यन्तर शान्त हुआ और इस प्रकार श्वेताम्बरों का कुलदेव बन गया। इसमें इस घटना का समय विक्रम की मृत्यु के १३६ वर्ष बाद अर्थात् वीर निर्वाण संवत् ६०६ बताया है। जबकि श्रुतकेवली भद्रबाहु का स्वर्गवास तो वीर निर्वाण संवत् १६२ में हो गया था। इस प्रकार यह कथानक न तो श्रुतकेवली भद्रबाहु के समय से संगति रखता है और न नैमित्तिक भद्रबाहु के समय से क्योंकि श्रुतकेवली भद्रबाहु तो उसके ४६० वर्ष पूर्व ही स्वर्गस्थ हो चुके थे और नैमित्तिक भद्रबाहु इस घटना के लगभग ४०० वर्ष बाद हुए हैं अतः यह कथानक पूरी तरह काल्पनिक है। इसमें सत्यांश मात्र यह है कि वस्त्र-पात्र सम्बन्धी यह विवाद आर्यभद्रगुप्त के गुरु शिवभूति और आर्यकृष्ण के बीच वीर निर्वाण संवत् ६०६ या ६०९ में ही हुआ था क्योंकि इसकी पुष्टि श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही साहित्यिक स्त्रोतों से हो जाती है। इन शिवभूति के एक शिष्य पूर्वधर भद्रगुप्त थे अतः नाम साम्य का सहारा लेकर इसे भद्रबाहु के साथ जोड़ दिया गया। पुनः इसमें भद्रबाहु के नाम के साथ श्रुतकेवली का अभाव और उनके अवन्तिका में होने का उल्लेख भी अचेलता के पक्षधर शिवभूति के शिष्य भद्रगुप्त से ही संगति रखते हैं।

ज्ञातव्य है कि इन भद्रगुप्त से आर्यरक्षित ने न केवल पूर्वो का ज्ञान प्राप्त किया था अपितु उनका समाधिमरण/निर्यापना भी करवाई थी। यह निर्यापना भी अवन्ती के समीपवर्ती भाद्रपद देश में हुई थी। आर्यरक्षित भी स्वयं दशार्णपुर (वर्तमान मन्दसौर) के निवासी थे। इस प्रकार यहाँ पूर्वधर आर्य भद्रगुप्त के कथानक को श्रुतकेवली भद्रबाहु से जोड़ने का असफल प्रयास हुआ है। यह भी ज्ञातव्य है कि आर्य भद्रगुप्त और आर्यरक्षित के समय तक जिनकल्प का प्रचलन था। यद्यपि अचेलकता के समर्थक जिनकल्प के साथ-साथ पात्र, कम्बल आदि के ग्रहण के रूप में स्थविर कल्प भी प्रचलित

था। आर्यरक्षित ने एक ओर वर्षाकाल में अतिरिक्त पात्र की अनुमति दी थी, वहीं दूसरीं ओर अपने पिता को नग्नता ग्रहण करवाने हेतु कुशलतापूर्वक एक युक्ति भी रची थी।[३२] इसी काल की मथुरा की जिनमूर्तियों के पादपीठ पर जो मुनियों के अंकन हैं वे भी इसे पुष्ट करते हैं। क्योंकि उनमें नग्न मुनि के अंकन के साथ कम्बल, मुखवस्त्रिका एवं झोली सहित पात्र प्रदर्शित हैं। (इन अंकनों के चित्र **जैन धर्म का यापनीय सम्प्रदाय** नामक ग्रन्थ के अन्त में प्रदर्शित हैं और ये मूर्तियाँ और पादपीठ लखनऊ संग्रहालय में उपलब्ध हैं)।

इसके पश्चात् दिगम्बर परम्परा में हरिषेण के बृहत्कथाकोश में श्रुतकेवली भद्रबाहु के कथानक के साथ अर्ध स्फालक एवं श्वेताम्बर परम्परा की उत्पत्ति के कथानक उपलब्ध होते हैं। अन्तर यह है कि जहाँ देवसेन ने इस घटना को वीर निर्वाण सं० ६०६ में घटित बताया, वहाँ हरिषेण ने स्पष्टत: इसे श्रुतकेवली भद्रबाहु से जोड़कर ई०पू० तीसरी शती में बताया। मात्र यही नहीं, उन्होंने इसमें देवसेन द्वारा उल्लेखित शान्त्याचार्य के स्थान पर रामिल्ल, स्थूलवृद्ध (स्थूलाचार्य) और स्थूलिभद्र ऐसे तीन अन्य आचार्यों के नाम दिये हैं।[३३] इनमें स्थूलिभद्र के नाम की पुष्टि तो श्वेताम्बर स्रोतों से होती है किन्तु रामिल्ल और स्थूलवृद्ध कौन थे उसकी पुष्टि अन्य किसी भी स्रोत से नहीं होती है। इसमें स्थूलिभद्र को भी एक स्थान पर छोड़कर अन्यत्र भद्राचार्य कहा गया है। एक विशेष बात इस कथानक में यह है कि इसमें अर्धस्फालकों से श्वेताम्बरों की उत्पत्ति बताई है। इसे कम्बल तीर्थ भी कहा गया है और कथानक के अन्त में कम्बलतीर्थ से सावलीपत्तन में यापनीय संघ की उत्पत्ति दिखाई है। जबकि ऐतिहासिक दृष्टि से सत्य यह है कि भद्रबाहु के काल में जो मुनिसंघ दक्षिण में चला गया उसे वहाँ के जलवायु के कारण नग्न रहने में विशेष कठिनाई नहीं हुई किन्तु जो मुनिसंघ उत्तर में रहा उसे उत्तर-पश्चिम में जलवायु की प्रतिकूलता के कारण नग्न रहते हुए भी कम्बल एवं पात्रादि स्वीकार करना पड़े तथा इसी कारण जिनकल्प एवं स्थविरकल्प का विकास हुआ। इसे उत्सर्ग एवं अपवाद मार्ग भी कह सकते हैं।

शिवभूति और आर्यकृष्ण के विवाद के पश्चात् ईसा की दूसरी शती में दो वर्ग बने। एक वर्ग ने पूर्व में गृहीत कम्बल और पात्र को यथावत रखा— इससे ही कालान्तर में वर्तमान श्वेताम्बर संघ का विकास हुआ और दूसरा वर्ग जिसने कम्बल और पात्र का त्याग करके उत्तर भारत में पुन: अचेलकत्व और पाणीपात्र की प्रतिष्ठा की थी और जिसे श्वेताम्बरों ने बोटिक कहा था। वही आगे चलकर दक्षिण में पहले मूलगण या मूलसंघ के नाम से और फिर यापनीय संघ के नाम से प्रसिद्ध हुआ। ज्ञातव्य है कि इस सम्बन्ध में विस्तृत सप्रमाण चर्चा मैंने **जैन धर्म का यापनीय सम्प्रदाय** नामक अपने ग्रन्थ में की है। इच्छुक व्यक्ति उसे वहाँ देख सकते हैं।[३४]

ज्ञातव्य है कि रइधू ने अपने भद्रबाहुचरित्र में कम्बल धारक अर्ध नग्न मुनियों से श्वेताम्बर परम्परा का उद्भव दिखाया, वह तो ठीक है किन्तु उन्होंने श्वेताम्बरों से यापनीयों की उत्पत्ति दिखाई, वह युक्तिसंगत नहीं है। क्योंकि श्वेताम्बर और यापनीय दोनों का विकास उत्तर भारत की स्थविरकल्पी मुनियों की परम्परा से हुआ है, जो नग्न रहते हुए भी कम्बल, पात्र एवं मुखवस्त्रिका रखते थे।

लगभग १५वीं शती में रइधू ने और सोलहवीं शती में रत्ननंदी ने जो भद्रबाहु चरित्र रचे उनमें पूर्व की अनुश्रुतियों में स्वैर कल्पना से भी नई-नई बातें जोड़ दी हैं। जैसे— मुनियों द्वारा रात्रि में भिक्षा लाकर दिन में खाना, भिखारियों द्वारा मुनि का पेट चीरकर उसमें से अन्न निकालकर खा जाना, रात्रि में भिक्षार्थ आये नग्न मुनि को देखकर स्त्री का गर्भपात हो जाना, स्थूलवृद्ध के शिष्यों द्वारा उनकी हत्या करना, उनका व्यन्तर के रूप में जन्म होना और अपने उन दुष्ट शिष्यों को कष्ट देना, शिष्यों द्वारा उनकी हड्डी या काष्ट पट्टिका पर अंकित चरण की पूजा करना आदि।[३५] ज्ञातव्य है कि भावसेन ने श्वेताम्बरों में प्रचलित शान्ति पाठ और शान्ति-स्नात्र को देखकर शान्त्याचार्य की कथा गढ़ी, तो रइधू एवं रत्ननंदी ने श्वेताम्बरों में स्थापनाचार्य की परम्परा को देखकर स्थूलाचार्य की यह कथा गढ़ी है। ज्ञातव्य है कि स्थापनाचार्य के रूप पाँच कोडिया या काष्ट पट्टिका रखने की परम्परा श्वेताम्बरों में है। स्थापनाचार्य का उल्लेख तो भगवतीआराधना में भी मिलता है।

भद्रबाहु के जीवनवृत्त में विप्रतिपत्तियाँ

इन कथानकों की स्वैर कल्पनाओं के जोड़ने से न केवल ऐतिहासिक प्रामाणिकता खण्डित हुई अपितु इनकी पारस्परिक विसंगतियाँ भी बढ़ती गईं। इस सम्बन्ध में मैं अपनी ओर से कुछ न कहकर आचार्य हस्तीमल[३६] जी एवं डॉ० राजाराम[३७] जी के मन्तव्यों के आधार पर कुछ विसंगतियों को प्रस्तुत कर रहा हूँ—

(१) द्वादशवर्षीय दुष्काल कहाँ पड़ा इस सम्बन्ध में मतैक्य नहीं है। हरिषेण, देवसेन, एवं रत्ननन्दी ने उज्जयिनी में बताया तो रइधू ने उसे मगध में कहा और भावसेन ने उसे सिन्धु-सौवीर देश में बताया।

(२) भद्रबाहु दक्षिणापथ गये अथवा नहीं इस सम्बन्ध में भी मतैक्य नहीं है। हरिषेण, देवसेन आदि ने उन्हें अवन्ती प्रदेश में रहने का उल्लेख किया तो रइधू ने उन्हें पाटलिपुत्र से दक्षिण जाने का संकेत किया।

(३) हरिषेण ने चन्द्रगुप्त मुनि को ही विशाखाचार्य बताया है जबकि देवसेन और रत्ननंदी ने चन्द्रगुप्त मुनि और विशाखाचार्य को अलग-अलग माना है।

(४) श्वेताम्बर मत की उत्पत्ति के प्रसंग में जहाँ देवसेन ने शान्त्याचार्य के शिष्य

जिनचन्द्र का उल्लेख किया वहाँ अन्य सभी ने स्थूलवृद्ध के शिष्यों का उल्लेख किया।

(५) जहाँ देवसेन ने श्वेताम्बर मत की उत्पत्ति विक्रम संवत् १३६ अर्थात् वीर निर्वाण सं० ६०६ में मानी वहाँ अन्यों ने उसे श्रुतकेवली भद्रबाहु के साथ जोड़कर उसे वीर निर्वाण संवत् १६२ के पूर्व माना।

(६) भावसेन ने चन्द्रगुप्त के मुनि होने का कोई उल्लेख नहीं किया, जबकि अन्यों ने उनके मुनि होने का उल्लेख किया है। किन्तु रइधू ने इसे चन्द्रगुप्त मौर्य (प्रथम) के स्थान पर उसके पौत्र अशोक का भी पौत्र निरूपित किया है जबकि कालिक दृष्टि से श्रुतकेवली भद्रबाहु और इस अशोक के पौत्र चन्द्रगुप्त में कोई संगति नहीं है। पुन: अशोक के पौत्र का नाम चन्द्रगुप्त था इसकी ऐतिहासिक आधार पर कोई पुष्टि नहीं होती है।

(७) इसी प्रकार श्वेताम्बरों के उत्पत्ति से सम्बन्धित घटनाक्रम में प्रत्येक लेखक ने अपनी स्वैर कल्पना का प्रयोग किया है अत: उनमें भी अनेक विप्रतिपत्तियाँ दिखाई देती हैं, जिनके संकेत पूर्व में किये गये हैं।

(८) भद्रबाहु के स्वर्गवास स्थल के सम्बन्ध में भी इन कथानकों में मतभेद है। किसी ने उसे भाद्रपद देश माना तो किसी ने दक्षिणापथ की गुहाटवी माना है। आश्चर्य है कि १६वीं शती में हुए रत्ननंदी तक किसी ने भी उसे श्रवणबेलगोला नहीं बताया है।

इस प्रकार की अनेक विप्रतिपत्तियों के कारण दिगम्बर परम्परा में प्रचलित भद्रबाहु सम्बन्धी इन कथानकों की ऐतिहासिक प्रामाणिकता पर प्रश्न चिह्न लग जाता है। अत: उनमें निहित तथ्यों की ऐतिहासिक दृष्टि से गहन समीक्षा अपेक्षित है।

दिगम्बर परम्परा में वर्णित भद्रबाहुचरित्र सम्बन्धी कथानकों में उत्तरभारत के द्वादशवर्षीय दुष्काल, उनके शिष्य विशाखाचार्य के दक्षिण गमन, जिनकल्प और स्थविरकल्प के विभाजन तथा श्वेताम्बर एवं यापनीय सम्प्रदायों के उद्भव के कथानक ही विस्तार से वर्णित हैं। मेरी दृष्टि में इन सबमें सत्यांश इतना ही है कि श्रुतकेवली भद्रबाहु के समय मगध में दुष्काल अथवा राजनैतिक अस्थिरता की स्थिति रही है। फलत: उनकी शिष्य परम्परा ने दक्षिण में प्रवास किया हो— यह भी सत्य है कि हलसी (धारवाड़) के पाँचवी शती के अभिलेखों में श्वेतपट्ट, यापनीय, कूर्चक एवं निर्ग्रन्थ सम्प्रदायों के जो उल्लेख हैं उनमें निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय सम्भवत: श्रुतकेवली भद्रबाहु की शिष्य परम्परा से सम्बन्धित रहा है।[३८] जबकि यापनीय सम्प्रदाय जो क्रमश: भद्रान्वय (तीसरी शती) एवं मूलसंघ (चतुर्थ शती) के नामों से अभिहित होता हुआ हलसी (पाँचवी शती) में यापनीय सम्प्रदाय के नाम से ही अभिहित हुआ[३९]— उसका सम्बन्ध भी भद्र

नामक आचार्य से रहा है। फिर वे चाहे शिवभूति के शिष्य और आर्य नक्षत्र के गुरु आर्यभद्रगुप्त (ई० दूसरी शती का पूर्वार्ध) हों अथवा उनकी शिष्य परम्परा में हुए गौतम गोत्रीय आर्यभद्र (ई० तीसरी का पूर्वार्ध), जिनके नाम से भद्रान्वय चला और जो निर्युक्तियों के कर्ता हैं तथा जो आर्य विष्णु के प्रशिष्य आर्य कालक के शिष्य तथा स्थविर वृद्ध के गुरु और स्कन्दिल एवं सिद्धसेन दिवाकर के प्रगुरु रहे हैं ये सभी यापनीय एवं श्वेताम्बर दोनों के पूर्वज रहे हैं— यही कारण है कि ये दक्षिण भारत में विकसित अचेलकत्व की समर्थक दिगम्बर और यापनीय परम्परा में भी मान्य रहे हैं। मेरी दृष्टि में दिगम्बर परम्परा की पट्टावली में उल्लेखित आर्य नक्षत्र और आर्य विष्णु भी वे ही हैं जिनका उल्लेख कल्पसूत्र एवं नन्दीसूत्र की स्थविरावली में मिलता है।[४०]

इसी प्रकार दिगम्बर परम्परा के भद्रबाहु कथानकों में उल्लेखित स्थूलभद्र, रामिल्ल और स्थूलवृद्ध (स्थूलाचार्य) किसी एक भद्रबाहु से सम्बन्धित न होकर पृथक्-पृथक् भद्र नामक आचार्यों से हैं। स्थूलभद्र का सम्बन्ध श्रुतकेवली भद्रबाहु से रहा है— सम्भवतः इनके द्वारा जिनकल्प के स्थान पर स्थविर कल्प का विकास हुआ हो। हो सकता है कि रामिल्ल का सम्बन्ध भद्रान्वय के संस्थापक आर्य भद्रगुप्त से हो और ये रामिल्लाचार्य विदिशा में स्थापित जिनमूर्तियों में उल्लेखित रामगुप्त हों इनसे ही आगे चलकर भद्रान्वय और यापनीय सम्प्रदाय का विकास हुआ है। जबकि स्थूलवृद्ध वस्तुतः स्थविर वृद्ध हों जिनके शिष्यों से वर्तमान श्वेताम्बर परम्परा का विकास हुआ। ज्ञातव्य है कल्पसूत्र स्थविरावली के अनुसार गौतमगोत्रीय आर्यभद्र स्थविरवृद्ध के गुरु हैं। इस प्रकार ये तीनों भद्र नामक तीन अलग-अलग आचार्यों से सम्बद्ध रहे, जिन्हें श्रुतकेवली आर्य भद्रबाहु की कथा के साथ गड्ड-मड्ड कर दिया गया है।

मुझे ऐसा लगता है कि परवर्ती दिगम्बर आचार्यों ने जो भद्रबाहु कथानक तैयार किये उनमें अनुश्रुतियों से प्राप्त इन भद्र नामक विभिन्न आचार्यों के कथानकों को आपस में मिला दिया और श्वेताम्बर को अति निम्न स्तरीय या भ्रष्ट दिखाने के लिये घटनाक्रमों की स्वैर कल्पना से रचना कर दी। यदि उस युग के श्वेताम्बर मुनि इतने निम्न एवं भ्रष्ट आचरण वाले होते तो हलसी के उस अभिलेख में (जिसमें निर्ग्रन्थों एवं श्वेताम्बरों का साथ-साथ उल्लेख हुआ है) श्वेताम्बरों के लिये— अर्हत्प्रोक्त सद्धर्मकरणपरस्टा श्वेतपट्टमहाश्रमण संघ जैसी आदरसूचक शब्दावली का प्रयोग नहीं होता।[४१] ज्ञातव्य है कि यह अभिलेख दक्षिण भारत के उत्तरी कर्नाटक के उस क्षेत्र का है जहाँ निर्ग्रन्थ दिगम्बर सम्प्रदाय एवं यापनीय सम्प्रदाय अधिक प्रभावशाली था। वहाँ राजा के द्वारा ई० सन् की पाँचवी शती में श्वेताम्बरों के लिये महातपस्वी जैसे शब्दों के प्रयोग से यह सिद्ध हो जाता है कि उस युग के श्वेताम्बर मुनि इतने आचारहीन नहीं थे जैसा कि इन भद्रबाहु चरित्रों में उन्हें चित्रित किया गया है।

आचार्य हस्तीमलजी ने **जैन धर्म के मौलिक इतिहास**, भाग २, पृष्ठ ३५७ पर इस तथ्य पर प्रकाश डाला है कि परवर्तीकाल में रचित दिगम्बर परम्परा के इन भद्रबाहु चरित्रों में किस प्रकार स्वैर कल्पनाओं द्वारा दूसरे सम्प्रदायों को नीचा दिखाने के लिये घटनाक्रम जोड़े जाते रहे। उनके अनुसार दिगम्बर परम्परा के विभिन्न ग्रन्थों के अध्ययन से यह तथ्य सामने आता है कि विभिन्न कालों में भद्रबाहु नाम के पाँच आचार्य हुए हैं। उन्होंने कालक्रम के अनुसार इनका विवरण इस प्रकार दिया है। १. श्रुतकेवली भद्रबाहु (वीर निर्वाण सं० १६२ अर्थात् ई०पू० तीसरी शती)। २. २९वें पट्टधर भद्रबाहु (वीर निर्वाण सं० ४९२-५१५ अर्थात् ईसा की प्रथम शती)। ३. नन्दिसंघ बलात्कारगण की पट्टावली में उल्लेखित भद्रबाहु (वीर निर्वाण सं० ६०९-६३१ अर्थात् ईसा की दूसरी शती)। ४. निमितज्ञ भद्रबाहु (ईसा की तीसरी शती, वीर निर्वाण आठवीं-नौवीं शती)। ५. प्रथम अंगधारी भद्रबाहु (वीर निर्वाण संवत् १००० के पश्चात्)।

यहाँ इन पाँच भद्रबाहु नामक आचार्यों की संगति श्वेताम्बर परम्परा से कैसे सम्भव है— यह विचार करना अपेक्षित है—

(१) अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु जिनका स्वर्गवास वीर निर्वाण सं० १६२ में हुआ ये १४ पूर्व व १२ अंगों के ज्ञाता थे। श्वेताम्बर परम्परानुसार ये सातवें और दिगम्बर परम्परानुसार ये आठवें पट्टधर थे। ये सचेल-अचेल दोनों परम्परा को मान्य रहे हैं। इनके समय में उत्सर्ग और अपवाद मार्ग या स्थविरकल्प और जिनकल्प की व्यवस्थायें पृथक्-पृथक् हुईं। ये छेद सूत्रों के कर्त्ता हैं। छेद सूत्रों में उत्सर्ग और अपवाद मार्गों तथा जिनकल्प और स्थविरकल्प की चर्चा है। इससे फलित होता है कि उनके काल में वस्त्र-पात्र व्यवस्था का प्रचलन था। पुनः यदि भद्रबाहु (प्रथम) को उत्तराध्ययन का संकलनकर्त्ता माना जाये तो उसमें भी छेदसूत्रों के तथा सचेल-अचेल परम्पराओं के उल्लेख हैं। पुनः विद्वानों ने पूर्वों को पार्श्वापत्य परम्परा से सम्बद्ध माना है। चूंकि छेदसूत्रों का आधार पूर्व थे और पूर्व पार्श्वापत्य परम्परा के आचार मार्ग का प्रतिपादन करते थे, अतः छेदसूत्रों में वस्त्र-पात्र के उल्लेख पार्श्वपत्यों से सम्बन्धित थे, जो आगे चलकर महावीर की परम्परा में मान्य हो गये। इनका काल ई॰पू॰ तीसरी शती है।

(२) २९वें पट्टधर आचार्य भद्रबाहु (अपरनाम—यशोबाहु) जो आठ अंगों के ज्ञाता थे, इनका काल वीर निर्वाण सं०.४९२ से ५१५ (ई०पू० प्रथम शती) माना गया है। आचार्य हस्तिमलजी के इस उल्लेख का आधार सम्भवतः कोई दिगम्बर पट्टावली होगी। हरिवंशपुराण में यशोबाहु को महावीर का २७वाँ पट्टधर बताया गया है। इस काल में कोई भद्रबाहु या यशोबाहु नामक आचार्य हुए हैं, इसकी पुष्टि श्वेताम्बर स्रोतों से नहीं होती है।

(३) नन्दिसंघ बलात्कार गण की पट्टावली में उल्लेखित वीर निर्वाण सं० ६०९ से ६३१ के मध्य आचार्य पद पर रहे हुए आचार्य भद्रबाहु के शिष्य गुप्तिगुप्त थे। आचार्य हस्तीमलजी के अनुसार इन्हीं भद्रबाहु के कथानक को थोड़ा अतिरंजित करके ही श्रुतकेवली भद्रबाहु के साथ जोड़ दिया गया है। मेरी दृष्टि में वस्तुत: ये शिवभूति के शिष्य भद्रगुप्त थे। इनके काल में वीर निर्वाण संवत् ६०६ या ६०९ में उत्तर भारत के निर्ग्रन्थ संघ में पुन: अचेलकत्व की प्रतिष्ठा हुई एवं बोटिक या यापनीय परम्परा का विकास भी इसी काल में हुआ। नन्दीसूत्र एवं कल्पसूत्र की स्थविरावली में इनका उल्लेख शिवभूति के शिष्य के रूप में है। श्वेताम्बर पट्टावलियों में इनके शिष्य श्रीगुप्त का उल्लेख है। सम्भव है कि श्रीगुप्त ही गुप्तिगुप्त हों।

(४) निमितज्ञ भद्रबाहु दिगम्बर परम्परा के अनुसार ग्यारह अंग के विच्छेद के पश्चात् हुए हैं। श्रुतस्कन्ध के कर्ता के अनुसार इनका काल विक्रम की तीसरी शताब्दी माना गया है। मेरी दृष्टि में ये गौतमगोत्रीय आर्यभद्र हैं, जो निर्युक्ति के कर्त्ता तथा आर्य विष्णु के प्रशिष्य और आर्य कालक के शिष्य हैं तथा स्थविर वृद्ध के गुरु और सिद्धसेन दिवाकर के दादा गुरु हैं। यही काल स्कन्दिल की माथुरी एवं वल्लभी की नागार्जुन की वाचना का है क्योंकि आगमों की माथुरी वाचना एवं निर्युक्तियाँ यापनीयों को मान्य रही हैं।

(५) वीर निर्वाण के १००० वर्ष पश्चात् हुए भद्रबाहु दिगम्बर परम्परा के अनुसार प्रथम अंग के धारक थे। मेरी दृष्टि में ये श्वेताम्बर प्रबन्धों में उल्लेखित वराहमिहिर के भाई भद्रबाहु हैं। वराहमिहिर की पंच सिद्धान्तिका में उसका रचनाकाल शक सं० ४२७ बताया है, इसमें १३५ वर्ष जोड़ने पर विक्रम सं० ५६२ आता है। इसमें ४७० जोड़ने पर वीर निर्वाण सं० १०३२ आता है। यही कारण है कि इनका उल्लेख कल्पसूत्र स्थविरावली में नहीं है। यदि हेमचन्द्र की मान्यता के आधार पर इसमें ६० वर्ष कम भी करें तो भी इनका काल वीर निर्वाण सं० ९७२ आता है जो इस वाचना के मात्र ८ वर्ष पूर्व है, अत: कल्पसूत्र स्थविरावली में इनका उल्लेख होने का प्रश्न ही नहीं उठता है। इनके समय में श्वेताम्बर सम्प्रदाय एक स्वतन्त्र सम्प्रदाय के रूप में अस्तित्व में आ गया था और श्वेताम्बर, दिगम्बर और यापनीयों के बीच भेद रेखा स्पष्ट हो चुकी थी।

इस प्रकार आचार्य हस्तिमलजी द्वारा उल्लेखित दिगम्बर परम्परा में विभिन्न कालों में हुए पाँच भद्रबाहु में से चार का उल्लेख श्वेताम्बर स्रोतों में प्राच्यगोत्रीय भद्रबाहु, भद्रगुप्त, गौतम गोत्रीय आर्यभद्र और नैमित्तिक वराहमिहिर के भाई भद्रबाहु नाम से प्राप्त होता है। इन चारों की दिगम्बर स्रोतों से प्राप्त नामों से कालिक समरूपता भी है।

ज्ञातव्य है श्वेताम्बर परम्परा में तित्थोगाली पइण्णा एवं चूर्णिकाल तक भद्रबाहु के जीवनवृत्त में उनका पूर्वधर होना, द्वादशवर्षीय दुष्काल के पश्चात् पाटलिपुत्र में हुई प्रथम आगम वाचना, उसमें भद्रबाहु की अनुपस्थिति, संघ द्वारा पूर्वों की वाचना देने का अनुरोध, वृद्धावस्था एवं महाप्राण ध्यान साधना में व्यस्तता के कारण भद्रबाहु द्वारा अपनी असमर्थता या अन्यमनस्कता व्यक्त करना, संघ द्वारा सम्भोग विच्छेद की स्थिति देखकर संघ का अनुरोध स्वीकार कर स्थूलिभद्र आदि को वाचना देना, स्थूलभद्र द्वारा सिंह रूप बनाकर विद्या का प्रदर्शन करना, भद्रबाहु द्वारा आगे वाचना देने से इंकार, विशेष अनुरोध पर मात्र मूल की वाचना देना आदि घटनायें वर्णित हैं। वहीं नन्दराज द्वारा मंत्री शकडाल के साथ दुर्व्यवहार, स्थूलभद्र से वैराग्य प्राप्त कर दीक्षित होना आदि घटनायें उल्लेखित हैं।[४२] किन्तु इनमें कहीं भी वराहमिहिर का उल्लेख नहीं है। 'गच्छाचार पइन्ना' की दोघट्टीवृत्ति से लेकर प्रबन्धचिन्तामणि, प्रबन्धकोश आदि के भद्रबाहुचरित्र में मात्र वराहमिहिर सम्बन्धी कथानक ही वर्णित है। किन्तु ज्ञातव्य है कि ये सभी रचनायें ईसा की ११वीं शती के बाद की हैं। इनमें भद्रबाहु के साथ वराहमिहिर का दीक्षित होना, फिर श्रमण पर्याय का त्याग करके अपने द्वारा १२ वर्ष तक सूर्य विमान में रहकर ज्योतिष चक्र की जानकारी प्राप्त करने का मिथ्या प्रवाद फैलाना, राजपुरोहित बन जाना, वराहमिहिर को पुत्र की प्राप्ति होना, उस पुत्र के दीर्घजीवी होने की भविष्य करना, इसी समय उस पुत्र के बारे में भद्रबाहु द्वारा बिल्ली के योग से उसकी सात दिन में मृत्यु होने की भविष्यवाणी करने और भद्रबाहु की भविष्यवाणी सत्यसिद्ध होने के उल्लेख हैं। इन प्रबन्धों में द्वारा इन्हें चतुर्दश पूर्वधर और निर्युक्ति का कर्त्ता भी कहा गया है। इस प्रकार श्वेताम्बर एवं दिगम्बर स्रोतों में श्रुतकेवली भद्रबाहु और नैमित्तिक भद्रबाहु के कथानकों को मिला दिया गया है। मात्र यही नहीं, इन दोनों के मध्य में हुए आर्यभद्रगुप्त और गौतमगोत्रीय आर्यभद्र नामक आचार्यों के कथानक एवं कृतित्व भी इनमें घुल मिल गये हैं जिनकी सम्यग् समीक्षा करके उनका विश्लेषण करना अपेक्षित है।

आचार्य भद्रबाहु का कृतित्व

जहाँ तक श्रुतकेवली भद्रबाहु की कृतियों का प्रश्न है उनको दशाश्रुतस्कन्ध, कल्प (बृहत्कल्प) और व्यवहार नामक छेदसूत्रों का कर्ता माना गया है।[४३] दशाश्रुतस्कन्ध निर्युक्ति और अन्य स्रोतों से इसकी पुष्टि होती है। कुछ लोगों ने इन्हें निशीथ का कर्ता भी माना है।[४४] इस सम्बन्ध में मेरा चिन्तन यह है कि न केवल निशीथ अपितु सम्पूर्ण आचारचूला—जिसका एक भाग निशीथ रहा है उसके कर्ता भी श्रुतकेवली भद्रबाहु हैं। क्योंकि उस काल तक निशीथ आचार चूला का ही एक भाग था और उससे उसका पृथक्करण नहीं हुआ था।

इसके अतिरिक्त भद्रबाहु के कृतित्व के सम्बन्ध में जो नई बात मुझे ज्ञात हुई वह यह है कि उत्तराध्ययनसूत्र के संकलनकर्त्ता भी श्रुतकेवली भद्रबाहु हैं। उत्तराध्ययन के अध्ययन अंग आगमों एवं पूर्वों से उद्धृत हैं।[४५] इस प्रकार उत्तराध्ययन एक कर्तृक नहीं होकर एक संग्रह ग्रन्थ ही सिद्ध होता है अत: इसका कर्ता कौन है, यह प्रश्न निरर्थक है। फिर भी यह प्रश्न तो बना ही रहता है कि इसका संग्रह या संकलन किसने किया? प्राचीनकाल में संग्राहक या संकलनकर्त्ता कहीं भी अपना नाम निर्देश नहीं करते थे। अत: इस सम्बन्ध में एक सम्भावना यह व्यक्त की जा सकती है कि उत्तराध्ययन के अध्ययन पूर्वों से उद्धृत हैं अत: उसके संकलनकर्त्ता कोई पूर्वधर आचार्य रहे होंगे। पूर्वधरों में भद्रबाहु का नाम महत्त्वपूर्ण है अत: भद्रबाहु उत्तराध्ययन के संकलनकर्त्ता हैं यह सम्भावना व्यक्त की जा सकती है। इस सम्बन्ध में एक प्रमाण आचार्य आत्माराम जी ने अपनी उत्तराध्ययन की भूमिका में दिया है। वे लिखते हैं कि 'भद्रबाहुना प्रोक्तानि भद्रबाह्वानि उत्तराध्ययनानि' अर्थात् भद्रबाहु द्वारा प्रोक्त होने से उत्तराध्ययनों को भद्रबाहव भी कहा जाता है। इस आधार पर कई विद्वानों ने उत्तराध्ययन के संकलनकर्ता के रूप में भद्रबाहु को मानने की सम्भावना व्यक्त की है। आत्मारामजी म०सा० ने भी उत्तराध्ययन की भूमिका में यह निर्देश तो किया है कि उत्तराध्ययन का एक नाम 'भद्रबाहव' भी है किन्तु उत्तराध्ययन का यह नाम कहां उपलब्ध होता है इसका उल्लेख उन्होंने नहीं किया है। किन्तु उनके अनुसार उपरोक्त पंक्ति के आधार पर भद्रबाहु को उत्तराध्ययन का रचयिता मानने का कोई औचित्य नहीं हैं, क्योंकि उपर्युक्त कथन में भद्रबाहुना के साथ प्रोक्तानि क्रियापद प्रयुक्त हुआ है जिसकी व्युत्पत्ति 'प्रकर्षेण उक्तानि प्रोक्तानि' है अर्थात् विशेष रूप से व्याख्यात, विवेचित या अध्यापित है। प्रोक्तानि का अर्थ रचितानि नहीं हो सकता है। इस बात की पुष्टि शाकटायन व्याकरण के प्रोक्ते (३/१/६९), हेम व्याकरण के 'तेन प्रोक्ते' (६/३/१८) तथा पाणिनीय व्याकरण के तेन प्रोक्तं (४/३/१०) सूत्रों की व्याख्या से भी होती है।[४६]

पुन: भाषा, शैली एवं विषयवस्तु की दृष्टि से विचार करने पर भी उत्तराध्ययन के सभी अध्ययनों को एक काल की रचना नहीं माना जा सकता है। इसमें एक ओर प्राचीन अर्धमागधी प्राकृत के शब्दों का प्रयोग मिलता है तो दूसरी ओर अर्वाचीन महाराष्ट्री प्राकृत के शब्द भी उपलब्ध होते हैं। शैली की दृष्टि से भी कुछ अध्ययन व्यास शैली में लिखे गये हैं तो कुछ समास शैली में हैं। अत: ये सब तथ्य भी उत्तराध्ययन के एक कर्तृक मानने में विसंगति उत्पन्न करते हैं।

फिर भी इस आधार पर इतना तो माना ही जा सकता है कि उत्तराध्ययन के संकलनकर्ता सम्भवत: भद्रबाहु रहे हों। यह स्पष्ट है कि निर्युक्ति में उत्तराध्ययन के ३६ अध्ययनों पर निर्युक्ति लिखी गई है अत: निर्युक्तिकार के समक्ष छत्तीस अध्ययन रूप उत्तराध्ययन उपस्थित था। यदि निर्युक्तियों के कर्ता श्रुतकेवली भद्रबाहु (प्रथम) को मानते

हैं तो हमें यह भी मानना होगा कि उत्तराध्ययन का संकलन उसके पूर्व हो चुका था और यह सम्भव है कि उसके संकलनकर्त्ता भी वे स्वयं हों, क्योंकि जिस प्रकार उन्होंने छेद सूत्रों की रचना कर उन पर निर्युक्ति लिखीं उसी प्रकार उन्होंने उत्तराध्ययन का संकलन करके उस पर निर्युक्ति लिखी हो। यद्यपि उन्हें निर्युक्ति का कर्ता मानना विवादास्पद है। दूसरे यदि निर्युक्ति के कर्ता के रूप में गौतमगोत्रीय आर्यभद्र अथवा अन्य विद्वानों के मतानुसार भद्रबाहु (द्वितीय) को माना जाये तो भी यह मानने में कोई बाधा नहीं है कि उत्तराध्ययन के संकलन कर्ता पाइण्ण गोत्रीय आर्य भद्रबाहु रहे हों।

उत्तराध्ययन सूत्र के इकतीसवें अध्ययन की सत्रहवीं गाथा में दशादि के छब्बीस अध्ययनों का उल्लेख है अत: उत्तराध्ययन के संकलन को इन छेद सूत्रों से परवर्ती मानना होगा इन छेद सूत्रों के रचयिता स्वयं प्राच्य गोत्रीय भद्रबाहु स्वयं ही हैं अत: सम्भव है कि उन्होंने इन छेद सूत्रों की रचना के बाद उत्तराध्ययन का संकलन किया हो। अत: इससे उत्तराध्ययन के संकलन कर्ता भद्रबाहु प्रथम को मानने में कोई बाधा नहीं आती है।

इस प्रकार यह निश्चित है दशाश्रुतस्कन्ध, बृहत्कल्प, व्यवहार— इन छेद सूत्रों के कर्ता भद्रबाहु (प्रथम) हैं। साथ ही निशीथ सहित आचार चूला के कर्ता भी वे हैं— यह सम्भावना प्रकट की गई है जो निराधार नहीं है। इसी प्रकार उनके उत्तराध्ययन सूत्र के संकलनकर्ता होने की सम्भावना से भी इन्कार नहीं किया जा सकता है। किन्तु निर्युक्तियों के कर्त्ता, आर्य भद्रबाहु प्रथम हैं— यह विवादास्पद है। यदि निर्युक्तियों के कर्ता आर्य भद्रबाहु प्रथम नहीं हैं तो कौन है? इस प्रश्न पर मैंने अलग से एक स्वतन्त्र निबन्ध में विचार किया है, जो Aspects of Jainology, Vol. 6, डॉ० सागरमल जैन अभिनन्दन ग्रन्थ में प्रकाशित है। अत: इस निबन्ध को यहीं विराम देते हैं।

सन्दर्भ

१. आचार्य हस्तिमल जी, **जैनधर्म का मौलिक इतिहास,** भाग-२, जयपुर (राज०), १९७४ ई०, पृ० ३२७.

2. ..... the author of the Niryukties Bhadrabahu is indentified by the Jainas with the patriarch of that name, who died 170 A.V. There can be no doubt that they are mistaken, For the account of the seven schisms (ninhaga) in the Āvaśyaka Niryukti, VIII 56-100, must have been written between 584 and 609 of the Vira era. There are the dates of the 7th and 8th schims of which only the former is mentioned in the Niryukti. It is therefore certain that the Niryukti was composed before 8th schism 609. A.V.

Pariśiṣtaparva Introductory, p. 6.

उद्धृत, **जैनधर्म का मौलिक इतिहास,** भाग २, पृष्ठ ३५९.

३. थेरे अज्ज जसभद्दस्स तुंगियायण सगुत्तस्स इमे दो थेरा अज्जभद्दबाहु पाइणसगुत्ते थेरे अज्ज संभूति विजए माढरसगुत्ते .. थेरे अज्जभद्दबाहू पाइणसगोत्ते, थेरे अज्ज संभूयविजये माढरसगोत्ते। थेरस्स णं अज्जभद्दबाहुस्स पाइणगोत्तस्स इमे चत्तारि थेरा अंतेवासी अहावच्चा अभिण्णाया होत्था, तं जहा-थेरे गोदासे १ थेरे अग्गिदत्ते २ थेरे जण्णदत्ते ३ थेरे सोमदत्ते ४ कासवगोत्ते णं। थेरेहिंतो गोदासे हिंतो कासवगुत्तेहिंतो इत्थ णं गोदासगणे नामं गणे निग्गए, तस्स णं इमाओ चत्तारि साहाओ एवमाहिज्जंति, तं जहा— तामलित्तिया १ कोडीवरिसिया २ पोंडवद्धणिया ३ दासीखब्बडिया ४। — **कल्सूत्र थेरावली,** २०७.

४. **जैनधर्म का मौलिक इतिहास,** भाग-२, पृ० ३७४.

५. (अ) गच्छाचार पइन्ना दोघट्टीवृत्ति, गाथा ८२ की वृत्ति, उद्धृत जैनधर्म का मौलिक इतिहास, भाग २, पृ० ३२७-३३०.

(ब) दक्षिणापथे प्रतिष्ठानपुरे भद्रबाहु वराहाह्वौ द्वौ द्विजो कुमारौ।—**प्रबन्धकोश,** पृ० २.

६. **प्रबन्धचिन्तामणि,** मेरुतुंग, प्रकाशक—सिंघी जैन ग्रन्थमाला, ग्रन्थांक १, शान्ति निकेतन, बंगाल १९३३ ई०, पृ० १९४.

७. आसी उज्जेणी णयरे आयारियो भद्दबाहुनामेण। — **भावसंग्रह,** देवसेन, ५३.

८. अथास्ति विषये कान्ते पौण्डवर्धनेनामनि।

कोटिमतं पुरं पूर्वं देवकोट्टं च साम्प्रतम्।। — **बृहत्कथाकोष**, हरिषेण, कथानक संख्या १३१, श्लोक १.

९. इह अज्जखेत्ति ..... कउतुकपुरम्मि ... सिरिभद्दबाहु .....। **भद्रबाहुचरित्र,** रइधू, सं० राजाराम जैन, पृ० २.

१०. नेपाल वत्तिणीए य भयवं भद्दबाहुसामी अच्छंति चौद्दस्स पुव्वी। — **आवश्यकचूर्णि,** भाग-२, पत्रांक १७८.

११. छत्तीसे वरिससए विक्कम रायस्स मरणपत्तस्स।

सोरट्ठे उप्पण्णो सेवडसंघो हु वल्लहीए ।।१३७।।

आसि उज्जेणिणयरे आयरियो भद्दबाहु णामेण।

जाणिय सुणिमित्तधरो भणिओ संघो मिओ तेण।।१३८।।

होइइ इह दुब्भिक्खं बारहवरसाणि जाव पुण्णाणि।

देसंतराइं गच्छह णियणियसंघेण संजुत्ता।।१३९।।

एक्कं पुण संतिणामो संपत्तो वलहिणामणयरीए।

बहुसीससंपउत्तो विसए सोरट्ठए रम्मे।।१४१।।

भावसंग्रह, देवसेन-गाथा, १३७-३९, १४१, माणिकचन्द दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, मुम्बई १९२१ ई॰.

१२. प्राप्य भाद्रपदं देशं श्रीमदुज्जयिनीभवम् ।

चकारानशनं धीरः स दिनानि बहून्यलम् ।। ४३

बृहत्कथाकोश, कथानक संख्या १३१, श्लोक सं॰ २३ से ४३.

१३. सर्वसंघाधिपो जातो विसषाचार्यसंज्ञक।।

अनेन सह संघोऽपि समस्तो गुरुवाक्यतः।

दक्षिणापथदेशस्थपुन्नाटविषयं ययौ।।४०।।

बृहत्कथाकोश, कथानक संख्या १३१, श्लोक ३८-४०.

१४. **कहाकोसु,** कर्ता— श्रीचन्द्र, प्रकाशक— प्राकृत टेक्स्ट सोसाइटी, अहमदाबाद १९६६ ई॰, संधि ४७, कडषक १०.

१५. **पुण्यास्रव कथाकोश,** सम्पा॰— रामचन्द्र मुमुक्षु, प्रकाशक— भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत् परिषद् १९९८, पृ॰ २२५-२२७ कथा क्रमांक ३८.

१६. बारहसहस मुणिहिं सहिउ भद्दबाहुरिसि चल्लियउ।

जंतउ जंतउ कयवयदिणहिं अडविहिं पत्तु गुणल्लियउ।।

भद्रबाहु, चाणक्य चन्द्रगुप्त कथानक, रइधू, सं॰— डॉ॰ राजाराम जैन, १३, पृ॰ २६.

१७. देखें— **भद्रबाहुचरित्र**, रत्ननन्दी, परिच्छेद ३, श्लोक ४७ से ५३, प्रकाशक— दिगम्बर जैन पुस्तकालय, सूरत, १९६६ ई॰.

१८. **भद्रबाहु-चाणक्य-चन्द्रगुप्त कथानक,** सम्पा॰— राजाराम जैन, प्रस्तावना, ९-११.

१९. सो वि य चोद्दसपुव्वी बारस वासाइं जोगपडिवन्नो।

देज्ज न व देज्ज वा वायणं ति वाहिप्पऊ ताव।।

तित्थोगाली, पइन्नयं ७२५, **पइण्णयसुत्ताइं,** सं॰ मुनिपुण्यविजय, महावीर जैन विद्यालय, बम्बई, १९८४ ई०.

२०. महापाणं ण पविट्ठो मि, इयाणिं पविट्ठो मि, तो न जाति वायणं दातुं ......।
— **आवश्यकचूर्णि,** भाग-२, पत्रांक १८७.

२१. **महावंस** (१०.६५; ३३. ४३-७९) के अनुसार श्रीलंका में बौद्धधर्म पहुँचने के पूर्व जैनधर्म का अस्तित्त्व था। पाण्डुकाभय ने वहाँ जोनिव और गिरि नामक निग्रन्थों के लिए चैत्य बनवाये थे। बाद में मट्टगामिणी अभय ने निर्ग्रन्थों का विनाश कर दिया।

22. T.V.G. Sastri, "An Earlist Jaina Site in the Krishna Valley", *Arhat Vacana,* Vol. I (3-4), June-Sept. 89, p. 23-54.

२३. हीरालाल जैन, सम्पा०- **जैनशिलालेखसंग्रह,** भाग-१, माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, ग्रन्थांक २८, मुम्बई १९२८ ई०, लेखांक १७-१८.

२४. महावीर सवितरि परिनिवृते भगवत्परमर्षि गौतम गणधर साक्षाच्छिष्य लोहार्य्य-जम्बु-विष्णुदेवापराजित-गोवर्द्धन-भद्रबाहु-विशाख-प्रोष्ठिल कृतिकार्य्य-जयनाम सिद्धार्थ धृतिषेणबुद्धिलादि गुरुपरम्परीण वक्र (क्र) माभ्यागत महापुरुषसंकृत्तिकार्य्यसमवद्योतितान्वय भद्रबाहु स्वामिना उज्जयन्यामष्टांग महानिमित्त तत्त्वज्ञेन त्रैकाल्यदर्शिना निमित्तेन द्वादशसंवत्सर-काल-वैषम्यमुपलभ्य कथिते सर्व्वस्सङ्घ उत्तरापथाद्दक्षिणापथं प्रस्थितः। — पार्श्वनाथवसति शिलालेख, शकसंवत् ५२२, **जैन शिलालेख संग्रह,** भाग-१, लेखांक १.

२५. सप्ताश्विवेदसंख्यं, शककालमपास्य चैत्र शुक्लादौ।

अर्धास्तमिते भानौ, यवनपुरे सौम्य दिवासाद्ये।।

पंचसिद्धान्तिका अन्तिम प्रशस्ति, उद्धृत— **जैनधर्म का मौलिक इतिहास,** भाग-२, पृ० ३७२.

२६. चंदगुत्ति रायहु विक्खायहु विंदुसारणंदणु संजायहु।

तहु पुत्तु विअसोउ हुउ पुण्णउ णउलु णामु सुअ तहु उप्पण्णउ।

..... णामें चंदगुत्ति तहु णंदणु संजायउ सज्जणु आणंदणु।

भद्रबाहु-चाणक्य-चन्द्रगुप्त कथानक, १०-११.

२७. **तित्थोगालीपइन्नय** — गाथा ७१४-७५२, **पइण्णयसुत्ताइं,** सं०- मुनि पुण्यविजय जी, प्रकाशक, महावीर विद्यालय, बम्बई, सन् १९८४.

२८. (अ) देखें— **जैनधर्म का यापनीय सम्प्रदाय,** डॉ० सागरमल जैन, पृ०२२०-२२१.

(ब) पेच्छइ परिब्भमन्तो दाहिण देसे सियम्बर पणओ। — **पउमचरियं** (विमलसूरि) प्राकृत टेक्स्ट सोसाइटी, वाराणसी, २२/७८.

२९. यापनि (नी) य निर्ग्रन्थकुर्च्चकानां .....। — **जैन शिलालेखसंग्रह,** भाग २, लेख क्रमांक ९९.

३०. णंदी व णंदिमित्तो बिदिओ अवराजिदो तइज्जो य। गोवद्धणो चउत्थो पंचमओ भद्दबाहु त्ति। —**तिलोयपणत्ति,** ४/१४८२.

३१. (अ) **बृहत्कथाकोश** (हरिषेण), कथानक १३१, श्लोक ४५-८१.

(ब) **भावसंग्रह** (देवसेन), गाथा ५२-७०.

टिप्पणी— ज्ञातव्य है कि जहाँ हरिषेण ने रामिल्ल, स्थविर एवं स्थूलभद्र नामक तीन आचार्यों का भद्रबाहु के शिष्य के रूप में उल्लेखित किया है, वहाँ भावसेन ने मात्र शान्त्याचार्य का उल्लेख किया है। इस प्रकार दोनों कथानकों में नामों के सम्बन्ध में अन्तर्विरोध है।

३२. निज्जवण भद्दगुत्ते वीसुं पढणं च तस्स पुव्वगयं।

पव्वाविओय भाया रक्खिअखमणेहिं जणओ अ।।

— **आवश्यकनिर्युक्ति,** गाथा ७७६.

३३. **बृहत्कथाकोश,** कथानक १३१, श्लोक ६२.

३४. **जैनधर्म का यापनीय सम्प्रदाय,** सागरमल जैन, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी, पृ० ४४-४५ एवं ३६३.

३५. (अ) **भद्रबाहु-चाणक्य-चन्द्रगुप्त कथानक,** रइधू, १७, १८, २१, २२, २३.

(ब) **भद्रबाहुचरित्र,** रत्ननन्दी, परिचछेद ३, श्लोक ५६-८४.

३६. **जैनधर्म का मौलिक इतिहास,** पृ० ३२६-३२७, ३४३-३४४.

३७. **भद्रबाहु-चाणक्य-चन्द्रगुप्त कथानक**, प्रस्तावना, पृष्ठ ५-६ एवं ९-१२.

३८. **जैनशिलालेखसंग्रह,** भाग २, लेख क्रमांक ९६.

३९. देखें (अ) **कल्पसूत्र स्थविरावलि** में विस्तृत वाचना उल्लेखित शिवभूति के शिष्य काश्यपगोत्रीय आर्यभद्रगुप्त और गौतमगोत्रीय आर्यभद्र।

(ब) आचार्य भद्रान्वयभूषणस्य .... — **जैनशिलालेखसंग्रह,** भाग-२, पृ०५७.

४०. (अ) थेरस्स णं अज्ज **सिवभूइस्स** कुच्छगुत्तस्स **अज्ज भद्दे** थेरे अंतेवासी कासव गुत्ते। थेरस्स अज्ज कालए गोयमगुत्तस्स इमे दो थेरा-थेरे अज्जसंपलिए थेरे अज्ज भद्दे। थेरे अज्ज जेहिल्लस्स ... अज्ज विण्हू थेरे। —**कल्पसूत्र स्थविरावली,** २०-२७.

(ब) ततो वंदे य भद्दगुत्तं। वड्डउ वायगवंसो रेवइनक्खत्त नामाणं — **नन्दिसूत्र, स्थविरावली,** ३१, ३५.

४१. सद्धर्मकरणपरस्य श्वेतपट्टमहाश्रमणसंघस्य। — **जैनशिलालेखसंग्रह**, भाग-३,

लेखक्रमांक ९८.

४२. (अ) **तित्थोगालीपइन्नयं,** सं० मुनिपुण्यविजयजी, गाथा ७०२-८०६.

(ब) **आवश्यकचूर्णि,** भाग-२, पृ० १७८, ऋषभदेव केशरीमल श्वेताम्बर संस्था, रतलाम, १९२९ ई०.

४३. वंदामि भद्दबाहुं पाईणं चरिमसयलसुयनाणिं।

सुत्तस्स कारगमिसिं दसासु कप्पे य ववहारे।। — **दशाश्रुतस्कन्धनिर्युक्ति,** १.

४४. तेण भगवता आयारकप्प, दसाकप्प, ववहारा य नवमपुव्वनी संदभूता निज्जूढा। (ज्ञातव्य है कि निशीथ का एक नाम आचारप्रकल्प भी रहा।) **पंचकल्पचूर्णि,** पत्र १.

४५. (अ) अंगप्पभवा जिणभासिया य पत्तेयबुद्धसंवाया।

बंधे मुक्खे य कया छत्तीसं उत्तरज्झयणा।। — **उत्तराध्ययननिर्युक्ति** ४.

(ब) कम्मप्पवायपुव्वे सत्तरसे पाहुडंमि जं सुत्तं। — **उत्तराध्ययननिर्युक्ति,** ६७.

४६. **उत्तराध्ययनसूत्रम्,** सम्पादक— उपाध्याय आत्मारामजी, प्रस्तावना, पृ० १६-१७.



'कौमुदीमित्रानन्द' में प्रतिपादित आचार्य रामचन्द्रसूरि की जैन जीवनदृष्टि

कालिकालसर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्र के पट्टशिष्य रामचन्द्रसूरि ने अनेक संस्कृत नाटकों की रचना करके संस्कृत साहित्य के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण अवदान दिया है। 'कौमुदीमित्रानन्द' भी उन्हीं नाटकों में से एक है। यह कृति श्री श्यामानन्द मिश्र के हिन्दी अनुवाद के साथ पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी से प्रकाशित हो रही है। यद्यपि प्रस्तुत ग्रन्थ की भूमिका में श्री श्यामानन्द मिश्र ने इस कृति के साहित्यिक पक्ष पर पर्याप्त विस्तार से प्रकाश डाला है, अतः यहाँ उस सम्बन्ध में मैं विशेष चर्चा न करके प्रस्तुत कृति में आचार्य रामचन्द्रसूरि ने जैनदृष्टि का निर्वाह किस कुशलता से किया है, इसका किञ्चित् निर्देश करना चाहूँगा।

आचार्य रामचन्द्रसूरि अपनी इस कृति का प्रारम्भ भगवान् ऋषभदेव की स्तुति के साथ करते हैं। न केवल इसके मङ्गलाचरण में, अपितु इस नाटक में चित्रित अन्य सङ्कटकालीन परिस्थितियों में भी वे भगवान् ऋषभदेव की शरण ग्रहण करने का निर्देश करते हैं। यथा—

(१) यः प्राप निवृतिं क्लेशाननुभूय भवार्णवे।
तस्मै विश्वैकमित्राय त्रिधा नाभिभुवे नमः।। — पृ० १।

(२) परं भगवतो नाभेयस्य पादाः शरणम्। — पृ० ३७।

(३) नाभेयस्य तदा पदानि शरणं देवस्य दुःखच्छिद। — पृ० ७६।

मात्र इतना ही नहीं नाटक के अष्टम अङ्क में तो वे मकरन्द के द्वारा जैनधर्म के प्रसिद्ध एवं परमपवित्र पञ्चपरमेष्ठी नमस्कार मन्त्र के स्मरण का भी निर्देश करते हैं।[1] उस नमस्कार मन्त्र के स्मरण के प्रभाव से न केवल उसके प्राण बच जाते हैं, बल्कि उसकी बलि देने वाला कापालिक स्वयं ही मृत्यु को प्राप्त हो जाता है।[2] इससे रामचन्द्रसूरि की जैनधर्म के नमस्कार मन्त्र के प्रति अनन्य निष्ठा भी प्रकट

१. परमेष्ठि नाम पवित्रं मन्त्रं स्मरामि। — वही, पृ० १४७।

२. पुनः पुरुषवपुर्मकरन्दाभिमुखं गत्वा प्रतिनिवृत्त्य च।
करवालेन कापालिकमभिहन्ति । — वही, पृ० १४८।

होती है। कृति के अन्तिम दशम अंक में भी उन्होंने नाभिपुत्र ऋषभदेव के स्मरण करने का निर्देश किया है।[३] इससे यह सुस्पष्ट हो जाता है कि आचार्य ने कृति के प्रारम्भ से लेकर अन्त तक अपनी जैन परम्परा का निर्वाह किया है।

यहाँ स्वाभाविक रूप से यह प्रश्न उपस्थित होता है कि आचार्य ने पार्श्व, महावीर आदि किसी अन्य तीर्थङ्कर की अपेक्षा प्रथम तीर्थङ्कर ऋषभदेव का ही चयन क्यों किया? वस्तुतः इसके पीछे आचार्य की एक गहन सूझ छिपी हुई है। मात्र यही नहीं, उन्होंने ऋषभदेव का चयन करके भी सम्पूर्ण कृति में कहीं भी उनके लिए ऋषभ शब्द का प्रयोग न करके नाभेय, नाभिसूनु, नाभिसमुद्भव जैसे शब्दों का प्रयोग किया है। यहाँ स्वाभाविक रूप से यह भी जिज्ञासा हो सकती है कि उन्होंने भगवान् ऋषभदेव का चयन करके भी उनके लिए ऋषभ का प्रयोग न करके नाभेय या नाभिसूनु जैसे नामों का प्रयोग क्यों किया? यह तो सुनिश्चित है कि जैन परम्परा में ऋषभदेव को नाभिनन्दन, नाभेय आदि नामों से जाना जाता है, किन्तु इस विशिष्ट शब्द के चुनाव में भी आचार्य रामचन्द्रसूरि की एक दीर्घदृष्टि रही हुई है। यह सुविदित है कि ब्राह्मण परम्परा में नाभेय का अर्थ ब्रह्मा भी होता है, यद्यपि उसी परम्परा के ग्रन्थ श्रीमद्भागवत में अष्टम अवतार के रूप में ऋषभ का निर्देश भी नाभिपुत्र के रूप में हुआ है। इस प्रकार आचार्य रामचन्द्रसूरि इस विशिष्ट शब्द का प्रयोग करके अपने इस नाटक को दोनों ही परम्पराओं के लिए ग्राह्य बना देते हैं, ताकि दर्शक और मंचन करने वाले दोनों ही अपनी-अपनी परम्परा के अनुरूप उसका अर्थ ग्रहण कर सकें। फिर भी यह सुस्पष्ट है कि नाभेय शब्द से कृतिकार का वाच्य भगवान् ऋषभदेव ही रहे हैं ब्रह्मा नहीं, क्योंकि कृतिकार को जब भी उनके सन्दर्भ में विशेषण देने का प्रश्न आया, उन्होंने उनके निवृत्तिप्रधान विरक्त स्वरूप का ही चित्रण किया है, जो ब्रह्माजी की अपेक्षा ऋषभदेव के साथ ही अधिक संगत सिद्ध होता है।[४]

पुनः प्रस्तुत कृति में नाभेय और नाभिसमुद्भव के साथ-साथ एक स्थल पर सकलदेवताधि चक्रवर्ती नाभिसूनु[५] शब्द का प्रयोग भी किया है, जो पूर्णतः ऋषभदेव पर ही लागू होता है। नाभेय और नाभि-समुद्भव का अर्थ तो किसी अपेक्षा से ब्रह्मा हो सकता है, किन्तु नाभिसूनु शब्द तो मात्र ऋषभदेव के सन्दर्भ में ही

---

३. स्मरामि निष्ठितक्लेशं देवं नाभिसमुद्भवम् । — वही, पृ० १८५।

४. यः प्राप निवृतिं, क्लेशाननुभूय भवार्णवे। — पृ० १।
स्मरामि निष्ठित क्लेशं। — पृ० १८५।

५. सकलदेवताधिचक्रवर्ती नाभिसूनु। वही, पृ० १३७।

घटित होता है। जबकि ऋषभदेव के सन्दर्भ में तो नाभिपुत्र होने से तीनों ही शब्द सार्थक हैं। यहाँ नाभिसमुद्भव का अर्थ नाभिकुल समुद्भव ही है। फिर भी यह सत्य है कि उन्होंने नाभेय नाम के प्रयोग के द्वारा अपनी उस उदारदृष्टि का परिचय दिया है, जो जैनधर्म के अनेकान्तवाद पर स्थित है। यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि प्रस्तुत कृति में जहाँ ब्रह्मा का निर्देश हुआ है, वहाँ विधाता, स्वयम्भू जैसे शब्द का प्रयोग किया है।

मात्र यही नहीं, आचार्य रामचन्द्रसूरि ने इस नाटक में सर्वत्र जैनधर्म की अहिंसक दृष्टि का भी पूरी निष्ठा से परिपालन किया है। यद्यपि प्रस्तुत नाटक में अनेक प्रसङ्ग ऐसे हैं, जहाँ नरबली के हेतु समस्त व्यवस्थाएँ चित्रित की गई हैं। किन्तु आचार्य ने एक भी प्रसङ्ग पर नरबली, पशुबली को सम्भव नहीं होने दिया।[६]

केवल इतना ही नहीं आचार्य ने स्पष्ट शब्दों में ऐसे हिंसक अनुष्ठानों की आलोचना भी की है, वे लिखते हैं—

अक्रूरं श्रेयसे कर्म क्रूरमश्रेयसे पुनः।
इति सिद्धे पथि क्रूरं श्रेयसे स्पृशतां भ्रमः।।

दूसरों को कष्ट न देनेवाले सत्कर्म का फल शुभ होता है, जबकि दूसरों को कष्ट देनेवाले असत्कर्म का फल अशुभ होता है। इस तरह की व्यवस्था के शास्त्रसिद्ध होने पर भी जो लोग शुभ फल की प्राप्ति हेतु असत्कर्म करते हैं, वे भ्रान्त ही हैं।[७]

इसके अतिरिक्त प्रस्तुत कृति में तीन देव मन्दिरों का चित्रण किया गया है— एक भगवान् ऋषभदेव का, दूसरा कामदेव का और तीसरा कात्यायनी देवी का। आचार्य ने बड़ी ही कुशलता के साथ कात्यायनी देवी के मन्दिर की वीभत्सता का, कामदेव के मन्दिर के सौन्दर्य का और ऋषभदेव के मन्दिर की शान्ति का चित्रण करके अव्यक्त रूप से अपनी वरेण्यता को इङ्गित कर दिया है। इस सन्दर्भ में उनके द्वारा किये गये विवरण प्रस्तुत हैं—

(अ) कात्यायनी के मन्दिर का स्वरूप

केतुस्तम्भविलम्बिमुण्डमभितः सान्द्रान्त्रमालाञ्चित
द्वारं शोणितपङ्किलाङ्गणमदन्मार्जारिभीष्मान्तरम् ।

---

६. यही पुस्तक, पृ० ११०, पृ० १४७, पृ० १८१।

७. यही, पृ० १०६।

गोपुच्छोत्थितदीपमश्मकुहरक्रोडप्रलुप्तोल्वण-
व्यालं दर्दुरदाहधूमविधुरं कात्यायनीमन्दिरम् ।।

(ब) कात्यायनी देवी का स्वरूप

नेत्र-श्रोत्र-वरौष्ठ-बाहु-चरण-घ्राणादिभिः प्राणिनां,
मन्त्रैः क्लृप्तबलिर्वसारसकृतस्नानाऽन्त्रमालार्चिता।
कण्ठस्थोरगलिह्यमानबहलप्लीहाङ्गरागा गल-
द्रक्ताऽऽर्द्रार्द्रनरेन्द्रकृत्तिरसनोत्तंसा मृडानी पुरः।।

भगवती कात्यायनी का यह मन्दिर ऐसा है जिसके ध्वज-स्तम्भ के चारों तरफ (बलिपशु के) मुण्ड लटकर रहे हैं, द्वार (बलि दिये गये पशुओं की खून से सनी हुई अतएव) चिपचिपी आँतडियों की माला से सुशोभित है और आन्तरिक भाग खून के कीचड़ से परिपूर्ण आङ्गन में मस्ती से घूमने वाली बिल्लियों के कारण अत्यन्त भयङ्कर है। इस मन्दिर के दीपस्तम्भों पर गोपुच्छाकार लौ वाले दीपक जल रहे हैं, पत्थरों (से बनी दीवारों) के छिद्रों में भयङ्कर (विषैले) साँप छिपे हुए हैं और नगाड़ों को तपाने हेतु जलायी गयी आग के धुएँ से यह मलिन (धूमिल) हो गया है।[८] पुनः भगवती कात्यायनी के स्वरूप का चित्रण करते हुए वे लिखते हैं— भगवती कात्यायनी सामने दिखाई पड़ रही हैं। इन्हें पशुओं के नेत्र, श्रोत्र, प्रशस्त ओष्ठ, भुजा, घ्राण आदि अङ्ग मन्त्रोच्चारपूर्वक बलिरूप में समर्पित हैं, ये चर्बी के रस से गीली आँतड़ियों की माला से सुशोभित हैं, इनके शरीर पर तिल्लियों (प्लीहा) का अत्यधिक अङ्गराग (उबटन), जिन्हें गले में लिपटे हुए साँप चाट रहे हैं, लगा हुआ है और ये टपकाते हुए रक्त से अत्यन्त गीले गजचर्म की करधनी रूपी आभूषण से सुशोभित हैं।[९]

कामदेव के मन्दिर का स्वरूप

स्फूर्जद्यावकपङ्कसङ्क्रमलसन्मध्यं जपासोदरै-
र्दूष्यैः क्लृप्तपताकमाम्रकिसलैस्ताम्रीभवत्तोरणम् ।
कौसुम्भैर्घटितावचूलमभितो मत्तालिभिर्दामभिः,
सिन्दूरारुणिताङ्गणं गृहमिदं देवस्य चेतोभुवः।।

यह भगवान् कामदेव का मन्दिर है, जिसका आन्तरिक भाग चमकीले अलक्तक (महावर) के रस के प्रसार से चमकीला हो गया है, जिसके शिखर पर

८. यही पुस्तक, पृ० ६६-६७।

९. यही पुस्तक, पृ० ६८।

जपाकुसुम के समान गाढ़े लाल रंग की पताका लहरा रही है, तोरणद्वार आम्रपल्लवों से आच्छादित होने के कारण ताम्रवर्ण के प्रतीत हो रहे हैं, सब तरफ (मन्दिर को सजाने के लिए) केसरिया पताकाएँ लटक रही हैं, जिन पर उन्मत्त भ्रमरपंक्ति मँडरा रही है और आँगन सिन्दूर (के गिरकर फैलने) से लाल हो गया है।[१०]

ऋषभदेव का चित्रण

कथमयं सकलदेवताधिचक्रवर्ती नाभिसूनुश्चैत्याभ्यन्तरमलङ्करोति?

(सर्वे प्रणमन्ति)

भद्राम्भोजमृणालिनी, त्रिभुवनावद्यच्छिदाजह्नवी,
लक्ष्मीयन्त्रणशृङ्खला, गुणकलावल्लीसुधासारणिः।
संसारार्णवनौर्विपत्तिलतिकानिस्त्रिंशयष्टिश्चिरं,
दृष्टिर्नाभिसुतस्य नः प्रथयतु श्रेयांसि तेजांसि च।।

ये देवाधिदेव सकल देवों के चक्रवर्ती नाभिपुत्र भगवान् ऋषभदेव मन्दिर के मध्य भाग को किस प्रकार सुशोभित कर रहे हैं?

नाभिपुत्र भगवान् ऋषभदेव के दर्शन, जो कल्याणस्वरूप कमलों के लिए सरोवरतुल्य, तीनों लोकों के पाप को नष्ट करने के लिए गङ्गासदृश, लक्ष्मी को नियन्त्रित रखने के लिए बेड़ी के समान, गुण और कलाओं के प्रसाररूपी अमृत के लिए प्रवाहस्वरूप, संसाररूपी समुद्र को पार करने के लिए नौकासदृश और विपत्तिलता के लिए खड्गस्वरूप हैं, हमारे लिए मङ्गलकारक और बलदायक हों।[११]

यद्यपि प्रस्तुत कृति में नरबलि, पशुबलि की समर्थक तान्त्रिक कर्मकाण्डों का चित्रण अनेक स्थलों पर हुआ है, फिर भी रामचन्द्रसूरि ने एक भी स्थल पर न तो उनका अनुमोदन किया है और न उनके द्वारा उपलब्ध सिद्धि का चित्रण ही किया है, जिससे जनसामान्य की उनके प्रति आस्था उत्पन्न हो। अपितु प्रत्येक प्रसंग पर उनकी विफलता का ही चित्रण किया है। जैसा कि पूर्व में सूचित किया है—एक स्थल पर तो नमस्कारमन्त्र के अचिन्त्य प्रभाव के आगे न केवल उन तान्त्रिक साधनाओं की विफलता का सङ्केत किया गया है, अपितु उसमें स्वयं तान्त्रिक की मृत्यु दिखाकर उनके वीभत्स दुष्परिणामों को भी उजागर कर दिया गया है। पुनः जैसा कि हमने निर्देश किया है, रामचन्द्रसूरि ने ऐसी तान्त्रिक साधनाओं में की

---

१०. यही पुस्तक, पृ० १७७-१७८।

११. यही पुसतक, पृ० १३७-३८।

जाने वाली नरबली आदि को क्रूरकर्म और ऐसे शास्त्र को क्रूरशास्त्र कहकर अपने अहिंसक जैन दृष्टिकोण का पोषण भी किया है।

इसी प्रकार उन्होंने भोगवादी जीवनदृष्टि की भी समालोचना की है। एक प्रसङ्ग में रामचन्द्रसूरि ने कामदेव की स्तुति के ब्याज से भगवान् विष्णु, शिव, ब्रह्मा, इन्द्र, सूर्य और चन्द्र को कामदेव के वशीभूत होकर दुर्यश (अकीर्ति) का भागी होना दिखाया है—

जनमहितमहिम्नां विष्णु-शम्भु-स्वयम्भू-
हरि-हय-हिमधाम्नां दुर्यशोनाट्यबीजम् ।

हे कामदेव! आप तो लोकविश्रुत महिमा वाले भगवान् विष्णु, शिव, ब्रह्मा, इन्द्र, सूर्य और चन्द्रदेव के दुर्यश के प्रसार के कारणभूत हैं।

कृति के प्रारम्भ में भी ब्रह्मा जी की कामवृत्ति का चित्रण करते हुए लिखते हैं—

एतां निसर्गसुभगां विरचय्य वेधाः
शङ्के स्वयं स भगवानभिलाषुकोऽभूत् ।

ऐसा प्रतीत होता है कि सृष्टिकर्ता ब्रह्मा इस निसर्गसुन्दरी की रचना करके स्वयं इसमें अनुरक्त हो गए।

इन संकेतों से यह स्पष्ट है कि आचार्य रामचन्द्रसूरि निवृत्तिमार्गी ब्रह्मचर्य-मूलक जैन जीवनदृष्टि को प्रधानता देते हैं।

यद्यपि रामचन्द्रसूरि के कौमुदीमित्रानन्द में प्रसङ्गानुकूल नारी के शारीरिक सौन्दर्य का चित्रण हुआ है, उसमें शृङ्गार की झलक भी दिखाई देती है। फिर भी, प्रस्तुत कृति में उन्होंने कहीं भी मर्यादा का उल्लङ्घन नहीं किया है। शृङ्गार के उनके सारे वर्णन संयत और जैन श्रमण की मर्यादा के अनुकूल हैं। नायिका कौमुदी के पति के प्रति पूर्ण निष्ठा एवं नायक मित्रानन्द की सच्चरित्रता, धर्मभीरुता और कर्तव्यनिष्ठा आदि ऐसे गुण हैं— जिससे यह सिद्ध हो जाता है रामचन्द्रसूरि ने प्रस्तुत कृति में जैन जीवन-मूल्यों के प्रति पूर्ण निष्ठा अभिव्यक्त की है।

अंगविज्जा और नमस्कार मन्त्र की विकास यात्रा

नमस्कार मन्त्र जैन धर्म का आधारभूत और सर्वसम्प्रदायमान्य मन्त्र है। परम्परागत विश्वास तो यही है कि यह मन्त्र अनादि-अनिधन है और जैन आगमों का सारतत्त्व एवं आदि स्रोत है। इस मन्त्र के सन्दर्भ में यह लोकोक्ति प्रसिद्ध है- 'चउदह पूरब केरो सार समरो सदा मन्त्र नवकार' मात्र यही नहीं, नमस्कार महामन्त्र का महाश्रुतस्कन्ध ऐसा नामकरण भी इसी तथ्य का सूचक है। आगमों के अध्ययन के पूर्व प्रारम्भ में इसी का अध्ययन कराया जाना भी यही सूचित करता है कि यह उनका आदि स्रोत है। नमस्कारमन्त्र के पाँचो पद व्यक्तिवाचक न होकर गुणवाचक हैं। इन गुणों का अस्तित्व अनादि अनिधन है और ऐसे गुणी जनों के प्रति विनय का भाव भी स्वाभाविक है अत: इस दृष्टि से नमस्कार मन्त्र को अनादि माना जा सकता है। किन्तु विद्वानों की मान्यता भिन्न है। उनके अनुसार चूलिका सहित पञ्चपदात्मक सम्पूर्ण नमस्कार मन्त्र का एक क्रमिक विकास हुआ है। प्रस्तुत निबन्ध में हम **अंगविज्जा** और खारवेल के अभिलेख के विशेष सन्दर्भ में नमस्कार मन्त्र की इस विकासयात्रा का अध्ययन करेंगे।

जैन आगम साहित्य के प्राचीन स्तर के ग्रन्थ, **आचाराङ्ग, सूत्रकृताङ्ग, ऋषिभाषित, उत्तराध्ययन, दशवैकालिक** आदि में नमस्कारमन्त्र का कोई भी निर्देश हमें उपलब्ध नहीं होता है। यद्यपि **दशवैकालिकसूत्र** में आर्य शय्यम्भव ने यह निर्देश किया है कायोत्सर्ग को नमस्कार से पूर्ण करना चाहिये किन्तु इससे यह स्पष्ट नहीं होता है कि यह नमस्कार पञ्चपदात्मक होता था। सामायिक सूत्र में कायोत्सर्ग के आगार सूत्र में यह पाठ आता है कि 'अरिहंताणं, भगवंताणं, नमुक्कारेणं न पारेमि'[1] अर्थात् अरहंताणं से इसे पूर्ण करूँगा। वर्तमान परम्परा से इसकी पुष्टि भी होती है। फिर भी नमस्कार से तात्पर्य पञ्चपदात्मक नमस्कारमन्त्र से रहा होगा यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता है। पञ्चपदात्मक नमस्कारमन्त्र के निर्देश जिन आगमों में उपलब्ध होते है उनमें अङ्ग आगमों में **भगवतीसूत्र** के अतिरिक्त अन्य किसी भी अङ्ग आगम ग्रन्थ में नमस्कार मन्त्र का निर्देश नहीं है। अङ्गबाह्य आगमों में **प्रज्ञापनासूत्र** के प्रारम्भ में भी नमस्कार मन्त्र उपलब्ध होता है। **प्रज्ञापना** के अतिरिक्त **महानिशीथ** के

प्रारम्भ में भी नमस्कार मन्त्र का निर्देशन मिलता है (ॐ नमो तित्थस्स। ॐ नमो अरहंताणं।)[२]

भगवतीसूत्र एवं **प्रज्ञापना** के प्रारम्भ में पञ्चपदात्मक नमस्कारमन्त्र का निर्देश तो है, किन्तु यह उनका अङ्गीभूत अंश है अथवा प्रक्षिप्त अंश है, इसको लेकर विद्वानों में मतवैभिन्न देखा जाता है। कुछ विद्वानों का कहना है कि **प्रज्ञापना** के टीकाकार मलयगिरि इसकी कोई टीका नहीं करते हैं, इसलिए यह मन्त्र उसका अङ्गीभूत मन्त्र नहीं है। इसे बाद में मङ्गल सूचक आदि वाक्य के रूप में जोड़ा गया है, अत: प्रक्षिप्त अंश है। यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि यद्यपि **भगवतीसूत्र** के प्रारम्भ में पञ्चपदात्मक नमस्कारमन्त्र तो मिलता है, किन्तु उसकी चूलिका नहीं मिलती है, उसके स्थान पर 'नमो बंभी-लिविए' यह पद मिलता है। अत: यह कल्पना की जा सकती है कि ब्राह्मीलिपि के प्रति यह नमस्कारात्मकपद तभी उसमें जोड़ा गया होगा, जब इस ग्रन्थ को सर्वप्रथम लिपिबद्ध किया गया होगा। **भगवतीसूत्र** के पश्चात् **प्रज्ञापनासूत्र** में भी पञ्चपदात्मक नमस्कारमन्त्र उपलब्ध होता है। किन्तु **प्रज्ञापनासूत्र** निश्चित ही ईसा की प्रथम शताब्दी के लगभग निर्मित हुआ है। अत: इस आधार पर केवल इतना ही कहा जा सकता है कि ईसा की प्रथम शताब्दी तक पञ्चपदात्मक नमस्कारमन्त्र का विकास हो चुका था। जहाँ तक **महानिशीथ** का प्रश्न है यह स्पष्ट है कि उसकी मूलप्रति दीमकों से भक्षित हो जाने पर आचार्य हरिभद्र ने ही इस ग्रन्थ का पुनरोद्धार किया। हरिभद्र का काल स्पष्ट रूप से लगभग ईसा की ७वीं-८वीं शताब्दी माना जाता है। अत: **महानिशीथसूत्र** में चूलिका नमस्कारमन्त्र की उपस्थिति उसकी विकास यात्रा को समझने में किसी भी प्रकार सहायक नहीं होती है। **महानिशीथ**[३] में जो यह बताया गया है कि 'पञ्चमङ्गल महाश्रुतस्कन्ध का व्याख्यान मूलमन्त्र की निर्युक्ति भाष्य एवं चूर्णि में किया गया था और यह व्याख्यान तीर्थंकरों से प्राप्त हुआ था। काल दोष से वे निर्युक्तियाँ, भाष्य और चूर्णियाँ नष्ट हो गईं। फिर कुछ समय पश्चात् वज्रस्वामी ने नमकार महामन्त्र का उद्धार कर उसे मूल सूत्र में स्थापित किया। यह वृद्धसम्प्रदाय है।' यह तथ्य नमस्कारमन्त्र के रचयिता का पता लगाने में सहायक होता है।

यद्यपि **आवश्यक निर्युक्ति** में वज्रस्वामी के उल्लेख में इस घटना का निर्देश नहीं है, फिर भी इससे दो बातें फलित होती है- प्रथम तो यह कि हरिभद्र के काल तक यह अनुभूति थी कि नमस्कार महामन्त्र के उद्धारक वज्रसूरि थे और दूसरे यह कि उन्होंने इसे आगम में स्थापित किया। इसका तात्पर्य यह भी है कि **भगवतीसूत्र** में नमस्कारमन्त्र की स्थापना वज्रस्वामी ने की और वे ही इसके उद्धारक या किसी अर्थ में इसके निर्माता हैं। वज्रस्वामी का काल लगभग ईसा की प्रथम शती है। संयोग से यही काल **अंगविज्जा** का है। खारवेल का अभिलेख इससे लगभग १५० वर्ष

पूर्व का है। आगमिक व्याख्या साहित्य में **आवश्यक निर्युक्ति** में सर्वप्रथम हमें सम्पूर्ण चूलिका सहित नमस्कारमन्त्र का निर्देश मिलता है। **आवश्यक निर्युक्ति** में पञ्चपदात्मक नमस्कारमन्त्र के साथ-साथ उसकी चूलिका भी उपलब्ध हो जाती है। मैंने अपने एक स्वतन्त्र लेख में यह स्थापित करने का प्रयत्न किया है कि निर्युक्ति का रचनाकाल ईसा की दूसरी शताब्दी के लगभग है। इससे यह फलित होता है कि चूलिका सहित पञ्चपदात्मक नमस्कारमन्त्र लगभग ईसा की दूसरी शताब्दी में अस्तित्व में आ गया था। दिगम्बर परम्परा में **षट्खण्डागम** के आदि में भी पञ्चपदात्मक नमस्कारमन्त्र उपलब्ध होता है किन्तु विकसित गुणस्थान सिद्धान्त की उपस्थिति आदि के कारण यह ग्रन्थ ईसा की ५वीं शताब्दी के पूर्व का सिद्ध नहीं होता है। इसी प्रकार **मूलाचार** में भी चूलिका सहित नमस्कारमन्त्र उपलब्ध होता है किन्तु यह ग्रन्थ भी लगभग ६ठी शताब्दी के आस-पास का है। इसमें तो नमस्कारमन्त्र और उसकी चूलिका आवश्यक निर्युक्ति से ही उद्धृत की गई है। क्योंकि **मूलाचार** एवं **आवश्यक निर्युक्ति** में न केवल प्रस्तुत चूलिका सहित नमस्कारमन्त्र उद्धृत हुआ है, अपितु उसकी अनेक गाथाएँ भी उद्धृत हैं, अत: हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि **आवश्यक निर्युक्ति** के काल तक अर्थात् ईसा की दूसरी शती तक नमस्कारमन्त्र का पूर्णत: विकास हो चुका था। परम्परागत मान्यता यह है कि 'सिद्धाणं नमो किच्चा' अर्थात् सिद्धों को नमस्कार करके जहाँ तीर्थंकर दीक्षित होते हैं। जहाँ तक अरहंत पद का प्रश्न है- **भगवती, आचाराङ्ग** (द्वितीय श्रुतस्कन्ध), **कल्पसूत्र** एवं **आवश्यकसूत्र** के शक्रस्तव में 'नमोत्थुणं अरहंताणं' के-रूप में अरहंत को नमस्कार किया गया है। सम्भवत: यहीं से नमस्कार मन्त्र की विकास यात्रा प्रारम्भ होती है। **महानिशीथ** सूत्र के प्रारम्भ में नमो तित्थस्स, नमो अरहंताणं-ऐसे दो पद मिलते हैं। इसमें नमस्कार मन्त्र का तो मात्र एक ही पद है। फिर उसमें 'नमो सिद्धाणं' पद जुड़कर द्विपदात्मक नमस्कार मन्त्र बना होगा इस प्रकार प्रारम्भ में नमस्कारमन्त्र अरहंत और सिद्ध-ऐसा द्विपदात्मक रहा होगा। यद्यपि आगमों में संयुक्त रूप में द्विपदात्मक नमस्कारमन्त्र कहीं उपलब्ध नहीं होता है। मथुरा के ई०पू० प्रथम शती तक के अभिलेखों में कुछ अभिलेखों में 'नमो अरहंता' यह एक पद ही मिलता है। **अंगविज्जा** के चतुर्थ अध्याय 'अंगस्तय' में 'नमो अरहंताणं' ऐसा एक ही पद है जो अध्याय के आदि में दिया जाता है। इसके पश्चात् **अंगविज्जा** के अष्टम अध्याय में द्विपदात्मक, त्रिपदात्मक और पञ्चपदात्मक नमस्कार मन्त्र मिलता है। **अंगविज्जा** में मुझे नमस्कारमन्त्र की चूलिका नहीं मिली, इस आधार पर यह माना जा सकता है कि चूलिका की रचना **अंगविज्जा** की रचना के पश्चात् ही निर्युक्तियों के रचनाकाल के समय हुई। इस प्रकार यह तो निश्चित होता है कि चूलिका रहित पञ्चपदात्मक नमस्कारमन्त्र लगभग ईसा की प्रथम या द्वितीय शताब्दी में अस्तित्व आ गया था। अभी तक की शोधों के आधार पर केवल यह अंगविज्जा के अध्ययन के बिना निश्चित हो पा रहा था कि ईसा की प्रथम

शताब्दी में पञ्चपदात्मक नमस्कारमन्त्र का और ईसा की दूसरी शताब्दी में उसकी चूलिका का निर्माण हुआ होगा। उसके पूर्व नमस्कारमन्त्र की क्या स्थिति थी? यह विचारणीय है। प्राचीन स्तर के आगमों यथा **आचाराङ्ग** आदि में 'अरहंत' पद तो प्राप्त होता है, किन्तु उसके साथ 'नमो' पद की कोई योजना नहीं है। आगम में 'नमो' पद पूर्वक 'सिद्ध' पद का प्रयोग **उत्तराध्ययनसूत्र**[४] में मिलता है। उसमें 'सिद्धाणं नमो' ऐसा प्रयोग मिला है। **भगवती** और **कल्पसूत्र** में 'नमोत्थुणं अरहंताणं,' ऐसा पद मिलता है। किन्तु 'नमो अरहंताणं, नमो सिद्धाणं' ऐसे दो पद मुझे देखने में नहीं आये।

इसी सन्दर्भ में सर्वप्रथम लगभग ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी का एक अभिलेखीय साक्ष्य प्राप्त होता है जिसमें द्विपदात्मक नमस्कारमन्त्र का निर्देश है। भुवनेश्वर (उड़ीसा) के खारवेल के हत्थीगुम्फा अभिलेख (ई०पू० दूसरी शताब्दी) में हमें निम्न दो पद मिलते हैं- १. 'नमो अरहंता,' २. 'नमो सव्व सिद्धाणं।'

इस प्रकार द्विपदात्मक नमस्कारमन्त्र का ई०पू० का अभिलेखीय साक्ष्य तो मिला, किन्तु किसी साहित्यिक साक्ष्य से इसकी पुष्टि नहीं हो पा रही थी। मात्र इतना ही नहीं, इसमें 'सिद्धाणं' के साथ जो 'सव्व' विशेषण जुड़ा हुआ है, उसकी भी किसी साहित्यिक साक्ष्य से कोई पुष्टि नहीं हो पा रही थी। संयोग से जब मैं अपनी पुस्तक **'जैन धर्म और तान्त्रिक साधना'** का 'जैन धर्म और मन्त्र साधना' नामक अध्याय लिख रहा था, तो जैन मन्त्रों के प्रारम्भिक स्रोतों को खोजने हेतु **अंगविज्जा** का अध्ययन कर रहा था तो मुझे उसमें न केवल द्विपदात्मक नमस्कारमन्त्र प्राप्त हुआ अपितु उसमें 'सव्व' विशेषण युक्त **'सिद्धाणं'** पद भी प्राप्त हुआ। इस प्रकार हमें खारवेल के अभिलेख के द्विपदात्मक नमस्कारमन्त्र का सम्पूर्ण साहित्यिक साक्ष्य **अंगविज्जा** में प्राप्त हुआ। साथ ही यह भी ज्ञात हुआ कि द्विपदात्मक इस नमस्कारमन्त्र के अभिलेखीय एवं साहित्यिक साक्ष्य समकालिक भी हैं। पुण्यविजय जी म०सा० द्वारा सम्पादित इस **अंगविज्जा** की 'भूमिका' में डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल ने अंगविज्जा को कुषाणकाल अर्थात् ईसा की प्रथम शती की रचना माना है। खारवेल का अभिलेख इससे लगभग १५० वर्ष पूर्व का होगा। इस प्रकार **अंगविज्जा,** से खारवेल के अभिलेख से किञ्चित् परवर्ती है। यही कारण है कि **अंगविज्जा** में नमस्कारमन्त्र के एक पदात्मक, द्विपदात्मक, त्रिपदात्मक एवं पञ्चपदात्मक चारों ही रूप देखने को मिलते हैं। किन्तु **अंगविज्जा** में हमें नमस्कारमन्त्र की चूलिका (एसो पञ्च नमोक्कारो सव्वपावप्पणासणो मंगलाणं च सव्वेसिं पढमं हवइ मंगलं) का कोई उल्लेख उपलब्ध नहीं होता है। अतः हम कह सकते हैं कि नमस्कारमन्त्र की चूलिका **एक परवर्ती रचना है।** ***इसका सर्वप्रथम निर्देश आवश्यक निर्युक्ति में उपलब्ध होता*** **है। यदि आवश्यक निर्युक्ति को मेरी मान्यता के अनुसार आर्यभद्र की रचना माना**

जाए तो उसका काल ईसा की दूसरी शताब्दी के लगभग स्थापित होता है। इस समग्र चर्चा से इतना अवश्य फलित होता है कि पञ्चपदात्मक नमस्कारमन्त्र का विकास ईसा की प्रथम शताब्दी में आये वज्र के समय में हो चुका था। उसमें ईसा की दूसरी शती में चूलिका जुड़ी। द्विपदात्मक नमस्कारमन्त्र से पञ्चपदात्मक नमस्कारमन्त्र के विकास में लगभग एक या दो शताब्दी व्यतीत हुई। खारवेल के अभिलेख और **अंगविज्जा** की रचना के बीच जो लगभग १५० वर्षों का अन्तर है, वही द्विपदात्मक नमस्कारमन्त्र से पञ्चपदात्मक नमस्कारमन्त्र के विकास का काल माना जा सकता है। जैसा कि हम पूर्व में उल्लेख कर चुके हैं— **अंगविज्जा** में एक पदात्मक, द्विपदात्मक और पञ्चपदात्मक चारो ही प्रकार के नमस्कारमन्त्र का उल्लेख उपलब्ध है। **अंगविज्जा** के प्रारम्भ में आदि मङ्गल के रूप में पञ्चपदात्मक नमस्कारमन्त्र है किन्तु उसके ही चतुर्थ अध्याय के प्रारम्भ में मङ्गल रूप में 'नमो अरहंताणं'-ऐसा एक ही पद है। पुन: **अंगविज्जा के** अष्टम अध्याय में महानिमित्तविद्या एवं रूप-विद्या सम्बन्धी जो मन्त्र दिये गये हैं उसमें द्विपदात्मक नमस्कारमन्त्र 'नमो अरहंताणं' और 'नमो सव्वसिद्धाणं' ऐसे दो पद मिलते हैं। इसमें भी प्रतिरूपविद्या सम्बन्धी मन्त्र में 'नमो अरहंताणं' और 'नमो सिद्धाणं' ये दो पद मिलते हैं। 'सिद्धाणं' के साथ में 'सव्व' विशेषण का प्रयोग नहीं मिलता है, किन्तु महानिमित्तविद्या सम्बन्धी मन्त्र में 'सव्व' विशेषण का प्रयोग उपलब्ध होता है। 'सव्व' विशेषण का उपयोग खारवेल के अभिलेखों में भी उपलब्ध है। **अंगविज्जा** में प्रतिहारविद्या सम्बन्धी जो मन्त्र दिया गया है उसमें हमें त्रिपदात्मक नमस्कारमन्त्र का निर्देश मिलता है। इसमें 'नमो अरंहताणं' 'नमो सव्वसिद्धाणं' और 'नमो सव्वसाहूणं' ऐसे तीन पद दिए गए हैं। ज्ञातव्य है कि इसमें सिद्धों और साधुओं के साथ 'सव्व' विशेषण का प्रयोग है। **अंगविज्जा** के इसी अध्याय में भूमिकर्म विद्या और सिद्धविद्या में पञ्चपदात्मक नमस्कारमंन्त्र उपलब्ध होता है। यह स्पष्ट है कि त्रिपदात्मक नमस्कार मंत्र से 'आयरिआणं' और 'नमो उवज्झायाणं' ऐसे दो पदों की योजनापूर्वक पञ्चपदात्मक नमस्कारमन्त्र का विकास हुआ है। नमस्कारमन्त्र की इस विकास यात्रा में इसकी शब्द योजना में भी आंशिक परिर्वतन हुआ है-ऐसा देखा जाता है। प्रथमत: 'नमो सिद्धाणं' में 'सिद्ध' पद के साथ 'सव्व' विशेषण की योजना हुई और पुन: यह 'सव्व' विशेषण उससे अलग भी किया गया। **अंगविज्जा** और खारवेल का अभिलेख इस घटना के साक्ष्य हैं। जैसा कि हम पूर्व में सूचित कर चुके हैं जहाँ खारवेल के अभिलेख में 'नमो सव्वसिद्धाणं' पाठ मिलता है वहाँ **अंगविज्जा** में 'नमो सिद्धाणं' और 'नमो सव्वसिद्धाणं'-दोनों पाठ मिलते हैं। वर्तमान में जो नमस्कारमन्त्र का 'नमो सव्वसिद्धाणं' और 'नमो सव्व साहूणं' पाठ मिलता है वह **महानिशीथ** सप्तम अध्याय *की चूलिका के प्रचलित पाठ में अनुपलब्ध है।* ***भगवती, प्रज्ञापना, षट्खण्डागम*** आदि श्वेताम्बर-दिगम्बर आगमों में जो पाठ उपलब्ध होता है उसमें कहीं भी सिद्ध

पद के साथ 'सव्व' (सर्व) विशेषण का प्रयोग नहीं हैं। इसी प्रकार की दूसरी समस्या 'साहू' पद के विशेषणों को लेकर भी है। वर्तमान में 'साहू' पद के साथ 'लोए' और '**सव्व**' इन दो विशेषणों का प्रयोग उपलब्ध होता है। वर्तमान में 'नमो लोए **सव्वसाहूणं**' पाठ उपलब्ध **है** किन्तु **अंगविज्जा** में 'नमो सव्वसाहूणं' और 'नमो लोए **सव्वसाहूणं**' ये दोनों पाठ उपलब्ध हैं। जहाँ प्रतिहार विद्या और क्षुरविद्या सम्बन्धी मन्त्र में 'नमो सव्वसाहूणं' पाठ है, वहीं अंगविद्या, भूमिकर्मविद्या एवं सिद्धविद्या में 'नमो सव्वसाहूणं-ऐसा पाठ मिलता है। **भगवतीसूत्र** की कुछ प्राचीन हस्त-प्रतियों में भी 'लोए' विशेषण उपलब्ध नहीं होता है-ऐसी सूचना उपलब्ध है, यद्यपि इसका प्रमाण मुझे अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ। किन्तु तेरापंथ समाज में 'लोए' पद रखने या न रखने को लेकर एक चर्चा अवश्य प्रारम्भ हुई थी और इस सम्बन्ध में कुछ ऊहापोह भी हुआ था। किन्तु अन्त में उन्होंने 'लोए' पाठ रखा। ज्ञातव्य है कि विशेषण रहित 'नमो साहूणं' पद कहीं भी उपलब्ध नहीं होता है। अत: नमस्कारमन्त्र के पञ्चम पद के दो रूप मिलते हैं- 'नमो सव्वसाहूणं' और 'नमो लोए सव्वसाहूणं' और ये दोनों ही रूप **अंगविज्जा** में उपस्थित हैं। इस सम्बन्ध में **अंगविज्जा** की यह विशेषता ध्यान देने योग्य है कि जहाँ त्रिपदात्मक नमस्कार मन्त्र का प्रयोग है वहाँ मात्र 'सव्व' विशेषण का प्रयोग हुआ है और जहाँ पञ्चपदात्मक नमस्कारमन्त्र का उल्लेख है वहाँ 'लोए' और 'सव्व' दोनों का प्रयोग है। जबकि 'सिद्धाणं' पद के साथ पञ्चपदात्मक नमस्कारमन्त्र में कहीं भी 'सव्व' विशेषण का प्रयोग नहीं हुआ है मात्र द्विपदात्मक अथवा त्रिपदात्मक नमस्कारमन्त्र में ही 'सिद्धाणं' पद के साथ 'सव्व' विशेषण का प्रयोग देखने में आता है। **अंगविज्जा** में नमस्कारमन्त्र में तो नहीं किन्तु लब्धिपदों के नमस्कार सम्बन्धी मन्त्रों में 'आयरिआणं' पद के साथ 'सव्वेसिं' विशेषण भी देखने को मिला है। वहाँ पूर्ण पद इस प्रकार है- 'णमो माहणिमित्तीणं सव्वेसिं आयरिआणं'। **आवश्यक निर्युक्ति** में उल्लेख है— 'आयरिअ नमुक्कारेण विज्जामंता य सिज्झंति'[५]। इससे यही फलित होता है कि विद्या एवं मन्त्रों की साधना का प्रारम्भ आचार्य के प्रति नमस्कार पूर्वक होता है। इसी सन्दर्भ में 'णमोविज्जाचारणसिद्धाणं तवसिद्धाणं'-ऐसे दो प्रयोग भी **अंगविज्जा** में मिलते हैं। ज्ञातव्य है कि यहाँ 'सिद्ध' पद का अर्थ वह नहीं है जो अर्थ पञ्चपदात्मक नमस्कारमन्त्र में है। यहाँ सिद्ध का तात्पर्य चारणविद्या सिद्ध अथवा तप-सिद्ध है, न कि मुक्त-आत्मा।

नमस्कारमन्त्र के प्रारम्भ में 'नमो' में दन्त्य 'न' का प्रयोग हो या मूर्धन्य 'ण' का प्रयोग हो इसे लेकर विवाद की स्थिति बनी हुई है। जहाँ श्वेताम्बर परम्परा के ग्रन्थों में 'नमो' और 'णमो' दोनों ही रूप मिलते हैं, वहाँ दिगम्बर परम्परा में 'णमो' ऐसा एक ही प्रयोग मिलता है। अब अभिलेखीय आधारों पर विशेषरूप से खारवेल के हत्थीगुम्फा अभिलेख और मथुरा के जैन अभिलेखों के अध्ययन से सुस्पष्ट

हो चुका है कि 'नमो' पद का प्रयोग ही प्राचीन है और उसके स्थान पर 'णमो' पद का प्रयोग परवर्ती है। वस्तुतः शौरसेनी प्राकृत और महाराष्ट्री प्राकृत के व्याकरण के 'नो णः' सूत्र के आधार पर परवर्ती काल में दन्त्य 'न' के स्थान पर मूर्धन्य 'ण' का प्रयोग होने लगा। इस सम्बन्ध में **अंगविज्जा** की क्या स्थिति है? यह भी जानना आवश्यक है। मुनि श्री पुण्यविजय जी ने अपने द्वारा सम्पादित **अंगविज्जा** में नमस्कारमन्त्र के प्रसङ्ग में 'नमो' के स्थान पर 'णमो' का ही प्रयोग किया है। किन्तु मूल में 'णमो' शब्द का प्रयोग स्वीकार करने पर हमें **अंगविज्जा** की भाषा की प्राचीनता पर सन्देह उत्पन्न हो सकता है। क्योंकि प्राचीन अर्धमागधी में सामान्यतः 'नमो' शब्द का प्रयोग हुआ है। इस सन्दर्भ में मैंने मुनि श्री पुण्यविजय जी के सम्पादन में आधारभूत रही हस्तप्रतों के चित्रों का अवलोकन किया। यद्यपि उनके द्वारा प्रयुक्त हस्तप्रतों में 'नमो' और 'णमो' दोनों ही रूप उपलब्ध होते हैं। जहाँ कागज की दो हस्तप्रतों में 'नमो' पाठ है, वहाँ कागज एक हस्तप्रत में 'णमो' पाठ है। इसी प्रकार सम्पादन में प्रयुक्त ताडपत्रीय दो प्रतों में से जैसलमेर की प्रति (१४वीं शती) में 'नमो' पाठ है। लेकिन परवर्ती खम्भात में लिखी गई (१५वीं शती के उत्तरार्ध १४८९ में लिखी गई निजी संग्रह) प्रति में 'णमो' पाठ है। मात्र यही नहीं कागज की उनके स्व संग्रह की जिस प्रति में 'णमो' पाठ मिला है उसमें भी प्रथम चार पदों में ही 'णमो' पाठ है। पञ्चम पद में 'नमो' पाठ ही है। यही नहीं आगे लब्धिपदों के साथ भी 'नमो' पाठ है। होना तो यह था कि सम्पादन करते समय उन्हें 'नमो' यह प्राचीन प्रतियों का पाठ लेना चाहिए था किन्तु ऐसा लगता है कि मुनि श्री ने भी **हेमचन्द्र-व्याकरण** के 'नो णः' सूत्र को आधार मानकर 'नमो' के स्थान पर 'णमो' को ही व्याकरण सम्मत स्वीकार किया है। आश्चर्य है कि मुनिश्री ने **अंगविज्जा** की प्रस्तावना में ग्रंथ की भाषा और जैन प्राकृत के विविध प्रयोगं शीर्षक के अन्तर्गत महाराष्ट्री प्राकृत से जैन प्राकृत (अर्धमागधी) के अन्तर की लगभग चार पृष्ठों में विस्तृत चर्चा की है और विविध व्यञ्जनों के विकार, अविकार और आगम को समझाया भी है फिर भी उसमें 'न' और 'ण' के सम्बन्ध में कोई चर्चा नहीं की है। सम्भवतः उन्होंने 'ण' के प्रयोग को ही उपयुक्त मान लिया था। किन्तु मेरा विद्वानों से अनुरोध है कि उन्हें अभिलेखों और प्राचीन हस्तप्रतों में उपलब्ध 'नमो' पाठ को अधिक उपयुक्त मानना चाहिए। वस्तुतः मुनि श्री पुण्यविजय जी ने जिस काल में **अंगविज्जा** के सम्पादन का दुरूह कार्य पूर्ण किया, उस समय तक 'न' और 'ण' में कौन प्राचीन है यह चर्चा प्रारम्भ ही नहीं हुई थी। मेरी जानकारी में इस चर्चा का प्रारम्भ आदरणीय डॉ० के० आर० चन्द्रा के प्रयत्नों से हुआ है, अतः भविष्य में जब कभी इसका पुनः सम्पादन, अनुवाद और प्रकाशन हो तब इन तथ्यों को ध्यान में रखा जाना चाहिए। वस्तुतः महान अध्यवसायी और पुरुषार्थी मुनि श्री पुण्यविजय जी के श्रम का ही यह फल है कि आज हमें **अंगविज्जा** जैसा दुर्लभ ग्रन्थ अध्ययन के लिए उपलब्ध

है। विद्वद्गण उनके इस महान कार्य को कभी नहीं भूलेंगे। आज आवश्यकता है तो इस बात कि इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ को हिन्दी, अंग्रेजी आदि भाषाओं में अनुदित करके प्रकाशित किया जाए ताकि प्राकृत भाषा से अपरिचित लोग भी भारतीय संस्कृति की इस अनमोल धरोहर का लाभ उठा सकें।

अंगविज्जा भारतीय निमित्त शास्त्र की विविध विधाओं पर प्रकाश डालने वाला अद्भुत एवं प्राचीनतम् ग्रन्थ है। इसी प्रकार जैन तन्त्र शास्त्र का भी यह अनमोल एवं प्रथम ग्रंथ है। परम्परागत मान्यता और इस ग्रंथ में उपलब्ध आन्तरिक साक्ष्य इस तथ्य के प्रमाण हैं कि यह ग्रंथ दृष्टिवाद के आधार पर निर्मित हुआ है (बारसमे अंगे दिट्ठिवाए..... सुत्तक्कियं तओ[६] इसमें भारतीय संस्कृति और इतिहास की अमूल्य निधि छिपी हुई है। मुनिश्री पुण्यविजय जी ने अति श्रम करके इसके विभिन्न परिशिष्टों में उसका सङ्केत दिया है और उसी आधार पर वासुदेवशरण अग्रवाल ने इसकी विस्तृत भूमिका लिखी है। जिससे यह स्पष्ट हो जाता है कि **अंगविज्जा** भारतीय संस्कृति का अनमोल ग्रन्थ है। इसका अध्ययन अपेक्षित है। प्रस्तुत प्रसङ्ग में मैंने **अंगविज्जा** के परिप्रेक्ष्य में मात्र नमस्कारमन्त्र की विकास यात्रा की चर्चा की। आगे इच्छा है कि **अंगविज्जा** के आधार पर लब्धि पदों की विकास यात्रा की चर्चा की जाये। ये लब्धि पद सूरिमन्त्र और जैन तान्त्रिक साधना के आधार हैं और इनका प्रथम निर्देश भी **अंगविज्जा** में मिलता है। साथ ही ये नमस्कारमन्त्र के ही एक विकसित स्वरूप हैं। इसकी विस्तृत चर्चा आगे किसी शोध लेख में करेंगे। वस्तुतः मुनि श्री पुण्यविजय जी ने **अंगविज्जा** को सम्पादित एवं प्रकाशित करके ऐसा महान उपकार किया है कि केवल इस पर सैकड़ों शोध लेख और बीसों शोध-प्रबन्ध लिखे जा सकते हैं। विद्वत् वर्ग इस सामग्री का उपयोग करे यही मुनि श्री के प्रति उनकी सर्वोत्तम श्रद्धाञ्जलि होगी।

सन्दर्भ

१. **सामायिक सूत्र** (कायोत्सर्ग- आगार सूत्र- ४) -
२. **महानिशीथ**, (श्रीआगमसुधासिन्धुः-दशमो विभागः) संपा० श्री विजय जिनेन्द्र सूरीश्वर, श्री हर्षपुष्पामृत जैन ग्रंथमाला ग्रन्थांक-७७, लाखा बावल, शांतिपुरी सौराष्ट्र, १/१.
३. तिथ्त्यर गुणाणमणंत भागमलब्भंतमन्नत्थ, वही- ३/२५.
४. सिद्धाणं णमो किच्चा, **उत्तराध्ययनसूत्र**, (नवसुत्ताणि) जैन विश्वभारती, लाडनूं, २०/१.
५. **आवश्यक निर्युक्ति**, हर्षपुष्पामृत जैन ग्रं०मा०, लाखाबावल, सौराष्ट्र-१११०.
६. **अंगविज्जा**- १/१०-११ पृ०- १



जीवसमास : एक अध्ययन

जीवसमास रचयिता एवं रचनाकाल

जीवसमास नाम से ही स्पष्ट हो जाता है कि यह जीवों की विभिन्न अवस्थाओं की विवेचना करने वाला ग्रन्थ है। यह किसी पूर्वधर आचार्य द्वारा रचित एवं जैन दर्शन का एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसके वास्तविक रचयिता कौन हैं, यह तथ्य मूलग्रन्थ के आधार पर कहीं भी स्पष्ट नहीं होता है। इसकी अन्तिम प्रशस्ति में इसे पूर्व साहित्य के आधार पर रचित माना गया है। इससे इतना तो अवश्य स्पष्ट हो जाता है कि इसके रचयिता पूर्वों के ज्ञाता थे। यह ग्रन्थ किसने और कब बनाया इसका ज्ञान हरिभद्र (८वीं शती) जैसे प्राचीन आचार्यों को भी नहीं था। नन्दीसूत्र एवं पाक्षिकसूत्र में उस काल तक रचित आगम ग्रन्थों के उल्लेख मिलते हैं, किन्तु उनमें कहीं भी जीवसमास का उल्लेख नहीं है। इससे यही सिद्ध होता है कि जीवसमास की रचना नन्दीसूत्र के पश्चात् ही हुई होगी। नन्दीसूत्र की रचना लगभग विक्रम की पांचवीं शती में हुई, अत: जीवसमास पांचवीं शती के पश्चात् निर्मित हुआ। सातवीं शताब्दी में या उसके पश्चात् रचित ग्रन्थों में जीवसमास का उल्लेख पाया जाता है, अत: जीवसमास की रचना विक्रम संवत् की पांचवीं शती के पश्चात् और सातवीं शती के पूर्व अर्थात् लगभग छठी शताब्दी में हुई होगी।

प्रस्तुत कृति लगभग छठी शती की रचना है, इसके कुछ अन्य आधार भी है, सर्वप्रथम इसमें नयों की चर्चा के प्रसंग में सात मूल नयों की प्रचलित अवधारणा के स्थान पर नैगम, संग्रह, व्यवहार, ॠजुसूत्र और शब्द— ये पाँच ही मूलनय माने गये हैं, यह अवधारणा हमें तत्त्वार्थसूत्र में भी मिलती है। जीवसमास में समभिरूढ़ और एवंभूत— इन दो नयों का कोई उल्लेख नहीं है, जबकि उमास्वाति समभिरूढ़ एवं एवंभूत— इन दो नयों का शब्द नय के दो भेदों के रूप में उल्लेख करते हैं। सिद्धसेनदिवाकर ने नैगम को तो स्वीकार नहीं किया, किन्तु समभिरूढ़ एवं एवंभूत को मूलनय मानकर छह नय माने हैं। ऐसा लगता है कि सप्त नयों की स्पष्ट अवधारणा लगभग छठी शती के उत्तरार्द्ध में विकसित हुई है, क्योंकि तत्त्वार्थसूत्र की सर्वार्थसिद्धि टीका (छठी शती) के मूलपाठ में सर्वप्रथम भाष्यमान पाठ के पाँच मूल नयों के स्थान पर सात मूलनयों का निर्देश हैं। जीवसमास में पाँच नयों का यह उल्लेख इतना

तो अवश्य सिद्ध करता है कि प्रस्तुत कृति सप्तनयों की अवधारणा के विकसित एवं सुस्थापित होने के पूर्व अर्थात् छठीं शती के पूर्वार्द्ध की रचना होनी चाहिए। यद्यपि गुणस्थानों की अवधारणा की उपस्थिति के आधार पर यह कृति तत्त्वार्थसूत्र से परवर्ती है फिर भी नयों के सन्दर्भ में यह उस धारा का प्रतिनिधित्व करती है, जो प्राचीन रही है। ज्ञातव्य है कि षट्खण्डागम मूल में भी सर्वत्र इन्हीं पाँचों नयों का निर्देश है (५/६/३, पृ० ७१८, ४/१/४८-५०, ४/१/५६-५९, ४/२/२-४, ४/३/१-४)।

जीवसमास की प्राचीनता का दूसरा आधार उसका ज्ञान सिद्धान्त है। इसमें ज्ञान के पाँच प्रकारों की चर्चा के प्रसंग में तत्त्वार्थसूत्र के समान ही मतिज्ञान और श्रुतज्ञान को परोक्षज्ञान ही माना गया है। यह अवधारणा भी तत्त्वार्थसूत्र के समान ही है, किन्तु मतिज्ञान के अन्तर्गत इन्द्रियप्रत्यक्ष को स्वीकार कर लेने से यह स्पष्ट हो जाता है कि ज्ञान चर्चा के प्रसंग में जीवसमास की स्थिति तत्त्वार्थसूत्र से परवर्ती है और नन्दीसूत्र के समान ही है— नन्दीसूत्र का काल लगभग पाँचवीं शती हैं। नन्दीसूत्र में ही सर्वप्रथम मतिज्ञान के एकभेद के रूप में इन्द्रियप्रत्यक्ष को व्यावहारिक प्रत्यक्ष के रूप में मान्य किया गया है।

पुनः प्रमाणों की चर्चा के प्रसंग में भी इसमें — प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द और उपमान इन चार प्रमाणों की ही चर्चा हुई है। जैन दर्शन में चार प्रमाणों की यह चर्चा भी आगमिक युग (५वीं शती) की देन है और न्यायदर्शन से प्रभावित है, समवायांग और नन्दीसूत्र में भी इन्हीं चार प्रमाणों की चर्चा मिलती है। इसमें स्मृति, प्रत्यभिज्ञा और तर्क इन तीन प्रमाणों की चर्चा का, जो तार्किक युग की देन है, पूर्ण अभाव है। जैनदर्शन में इन तीनों की प्रमाणों के रूप में स्वीकृति सर्वप्रथम अकलंक के काल (लगभग ८वीं शती) से प्रारम्भ होती है। अतः इससे भी इतना तो सुनिश्चित होता है कि जीवसमास ५वीं शती के पश्चात् और ८वीं शती के पूर्व अर्थात् छठी-सातवीं शती में कभी निर्मित हुआ होगा। किन्तु सातवीं शती से जीवसमास के निर्देश उपलब्ध होते हैं, अतः यह छठी शती में निर्मित हुआ होगा, इस तथ्य को मान्य किया जा सकता है।

तीसरे जीवसमास में चौदह गुणस्थानों का भी स्पष्ट उल्लेख मिलता है इससे भी यही स्पष्ट होता है कि यह ग्रन्थ ५वीं शताब्दी के बाद की ही रचना है। तत्त्वार्थसूत्र और उसके स्वोपज्ञभाष्य (लगभग तीसरी-चौथी शती) में गुणस्थान सिद्धान्त का कोई उल्लेख नहीं है। अतः इतना तो निश्चित है कि यह ग्रन्थ तभी अस्तित्व में आया, जब चौदह गुणस्थानों की अवधारणा अस्तित्व में आ चुकी थी। चौदह गुणस्थानों का उल्लेख आगम साहित्य में सर्वप्रथम समवायांग और आवश्यकनिर्युक्ति की दो प्रक्षिप्त गाथाओं में पाया जाता है। किन्तु उनमें ये गाथाएँ

सम्भवतः वल्लभीवाचना के समय या उसके भी पश्चात् कभी संग्रहणीसूत्र से प्रक्षिप्त की गई होंगी, क्योंकि आवश्यकनिर्युक्ति की टीका में आचार्य हरिभद्र ने इन दोनों गाथाओं को निर्युक्ति की गाथा न मानकर संग्रहणीसूत्र की गाथा कहा है। आज संग्रहणीसूत्र की अनेक गाथाएँ आगमों एवं निर्युक्तियों में उपलब्ध होती हैं। यह निश्चित है कि गुणस्थान की अवधारणा लगभग पाँचवीं शती के उत्तरार्द्ध और छठी शती के पूर्वार्द्ध में कभी अस्तित्व में आयी है। अतः गुणस्थानों के आधार पर जीव की चौदह मार्गणाओं और आठ अनुयोगद्वारों की चर्चा करने वाला यह ग्रन्थ उसके पश्चात् ही लगभग छठी शती के उत्तरार्द्ध में निर्मित हुआ होगा।

यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रारम्भ में चौदह गुणस्थानों को जीवसमास के नाम से अभिहित किया गया है। चौदह गुणस्थानों को समवायांगसूत्र में मात्र जीवस्थान के नाम से तथा षट्खण्डागम के प्रारम्भ में जीवसमास के नाम से और बाद में गुणस्थान के नाम से अभिहित किया गया है। षट्खण्डागम के समान ही प्रस्तुत कृति में भी गुणस्थान को पहले जीवसमास और बाद में गुणस्थान के नाम से अभिहित किया गया है। पुनः प्रस्तुत कृति की षट्खण्डागम के सत्पदप्ररूपना नामक प्रथम खण्ड से भी अनेक अर्थों में समानता है जिसकी चर्चा हम आगे करेंगे। इससे ऐसा लगता है कि यह कृति षट्खण्डागम की समकालिक या उससे किञ्चित पूर्ववर्ती या परवर्ती ही रही होगी। फिर भी इतना निश्चित है कि प्रस्तुत कृति उसी प्रारम्भिक काल की रचना है जब गुणस्थानों की अवधारणा जीवसमास के नाम से प्रारम्भ होकर गुणस्थान सिद्धान्त के रूप में अपना स्वरूप ले रही थी। इसमें गुणस्थानों और मार्गणाओं के सह-सम्बन्ध की चर्चा से यह भी फलित होता है कि यह लगभग छठी शताब्दी के उत्तरार्द्ध की रचना है, क्योंकि छठी शताब्दी के उत्तरार्द्ध से न केवल जीवसमास या जीवस्थान, गुणस्थान के नाम से अभिहित होने लगे थे, अपितु जीवस्थान, मार्गणास्थान और गुणस्थान के एक-दूसरे से पारस्परिक सह-सम्बन्ध भी निश्चित हो चुके थे। जीवसमास नामक प्रस्तुत कृति में जीवस्थानों, मार्गणास्थानों और गुणस्थानों के पारस्परिक सम्बन्ध की जो स्पष्ट चर्चा है, उससे यही फलित होता है कि यह कृति लगभग छठी शती के उत्तरार्द्ध की रचना होकर षट्खण्डागम के समकालिक होनी चाहिए।

इस प्रसंग में गुणस्थान सिद्धान्त के उद्भव और विकास की यात्रा को समझ लेना आवश्यक है, क्योंकि जीवसमास नामक इस कृति में 'जीवसमास' के नाम से गुणस्थानों की ही चर्चा की गई है और इन गुणस्थानों के सन्दर्भ में मार्गणाओं आदि का सह-सम्बन्ध स्पष्ट करना ही इसका प्रतिपाद्य है।

गुणस्थान सिद्धान्त का उद्भव एवं विकास

व्यक्ति की आध्यात्मिक शुद्धि के विभिन्न स्तरों का निर्धारण करने के लिए जैन दर्शन में गुणस्थान की अवधारणा को प्रस्तुत किया गया है। यद्यपि गुणस्थान की अवधारणा जैन धर्म की एक प्रमुख अवधारणा है तथापि प्राचीन स्तर के जैन-आगमों यथा— आचारांग, सूत्रकृतांग, उत्तराध्ययन, ऋषिभाषित, दशवैकालिक, भगवती आदि में इस सिद्धान्त का कोई निर्देश उपलब्ध नहीं है। सर्वप्रथम समवायांग में जीवस्थान के नाम से इन गुणस्थानों का उल्लेख हुआ है। समवायांग में यद्यपि चौदह गुणस्थानों के नामों का निर्देश हुआ है, किन्तु उन्हें गुणस्थान न कहकर जीवस्थान (जीवठाण) कहा गया है। (समवायांग, सम्पादक— मधुकरमुनि, १४/९५)

समवायांग के पश्चात् श्वेताम्बर परम्परा में गुणस्थानों के इन चौदह नामों का निर्देश आवश्यकनिर्युक्ति में उपलब्ध है, किन्तु उसमें भी उन्हें गुणस्थान न कहकर जीवस्थान ही कहा गया है। ज्ञातव्य है कि निर्युक्ति में भी ये गाथाएँ प्रक्षिप्त हैं। आचार्य हरिभद्र (आठवीं शती) ने अपनी आवश्यकनिर्युक्ति की टीका में इन्हें संग्रहणीसूत्र से उद्धृत बताया है।

आगमों के समान प्रकीर्णकों में भी गुणस्थान की अवधारणा का अभाव है। श्वेताम्बर परम्परा में इन चौदह अवस्थाओं के लिए "गुणस्थान" शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग हमें आवश्यकचूर्णि (७वीं शती) में मिलता है उसमें लगभग तीन पृष्ठों में इसका विवरण दिया गया हैं।

जहाँ तक अचेल परम्परा का प्रश्न है उसमें कसायपाहुड को छोड़कर षट्खण्डागम, मूलाचार और भगवती आराधना जैसे तत्त्वज्ञान एवं आचारप्रधान ग्रन्थों में तथा तत्त्वार्थसूत्र की पूज्यपाद देवनन्दी की सर्वार्थसिद्धि टीका, भट्ट अकलंक के राजवार्त्तिक, विद्यानन्दी के श्लोकवार्त्तिक आदि दिगम्बर आचार्यों के टीका ग्रन्थों में इस सिद्धान्त का विस्तृत विवेचन हुआ है। ज्ञातव्य है कि मात्र षट्खण्डागम में इन्हें जीवसमास कहा गया है। शेष सभी ग्रन्थों में इन्हें गुणस्थान के नाम से ही अभिहित किया गया है।

हमारे लिए आश्चर्य का विषय तो यह है कि आचार्य उमास्वाति (लगभग तीसरी-चौथी शती) ने जहाँ अपने तत्त्वार्थसूत्र में जैन धर्म एवं दर्शन के लगभग सभी पक्षों पर प्रकाश डाला है। वहाँ उन्होंने चौदह गुणस्थानों का स्पष्ट रूप से कहीं भी निर्देश नहीं किया है। अतः यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उपस्थित होता है कि क्या तत्त्वार्थसूत्र के रचनाकाल तक जैन धर्म में गुणस्थान की अवधारणा का विकास नहीं हुआ था? और यदि उसका विकास हो चुका था

एक साथ चौदह गुणस्थानों का उल्लेख नहीं है, किन्तु ध्यान के प्रसंग में ७वें से १४वें गुणस्थान तक की, मूलाचार की अपेक्षा विस्तृत विवेचना हुई है। उसके पश्चात् देवनन्दी की सर्वार्थसिद्धि टीका में गुणस्थान (गुणट्ठाण) का विस्तृत वर्णन मिलता है। पूज्यपाद देवनन्दी ने तो सर्वार्थसिद्धि टीका में सत्प्ररूपणा आदि द्वारों की चर्चा में मार्गणाओं की चर्चा करते हुए प्रत्येक मार्गणा के सन्दर्भ में गुणस्थानों का विस्तृत विवरण दिया है, यह विवरण आंशिक रूप से जीवसमास एवं षट्खण्डागम से समानता रखता है।

आचार्य कुन्दकुन्द की ही यह विशेषता है कि उन्होंने सर्वप्रथम नियमसार, समयसार आदि में मग्गणाठाण, गुणठाण और जीवठाण का उनके भिन्न-भिन्न अर्थों में प्रयोग किया है। इस प्रकार जीवठाण या जीवसमास शब्द जो समवायांग एवं षट्खण्डागम के काल तक गुणस्थान के पर्यायवाची के रूप में प्रयुक्त होते थे, वे अब जीव की विभिन्न योनियों के सन्दर्भ में प्रयुक्त होने लगे। कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में जीवस्थान का तात्पर्य जीवों के जन्म ग्रहण करने की विविध योनियों से है। इसका एक फलितार्थ यह है कि भगवती आराधना, मूलाचार तथा कुन्दकुन्द के काल तक जीवस्थान और गुणस्थान दोनों की अलग-अलग स्पष्ट धारणाएँ बन चुकी थी और इन दोनों के विवेच्य विषय भी अलग हो गये थे। जीवस्थान या जीवसमास का सम्बन्ध जीवयोनियों/जीवजातियों से और गुणस्थान का सम्बन्ध आत्मविशुद्धि/कर्मविशुद्धि से माना जाने लगा था। ज्ञातव्य है कि आचारांग आदि प्राचीन ग्रन्थों में जहाँ गुण शब्द का प्रयोग बन्धक तत्त्व के रूप में हो रहा था, वहाँ गुण शब्द का प्रयोग गुणस्थान में आत्मविशुद्धि का वाचक बन गया। इस प्रकार यदि गुणस्थान सिद्धान्त के ऐतिहासिक विकासक्रम की दृष्टि से विचार करें तो मूलाचार, भगवती आराधना, सर्वार्थसिद्धि टीका एवं कुन्दकुन्द के समयसार, नियमसार आदि सभी ग्रन्थ लगभग छठी शती उत्तरार्द्ध या उससे भी परवर्ती ही सिद्ध होते हैं। निश्चय ही प्रस्तुत जीवसमास और षट्खण्डागम उनसे कुछ पूर्ववर्ती है।

इन समस्त चर्चा से ऐसा लगता है कि लगभग पाँचवीं शताब्दी के अन्त में जब सर्वप्रथम गुणस्थान की अवधारणा सुव्यवस्थित हुई, तब उसे जीवस्थान या जीवसमास के नाम से अभिहित किया जाता था— गुणस्थान शब्द का प्रयोग अभी प्रचलित नहीं हुआ था। लगभग छठी शती से इसके लिए गुणस्थान शब्द रूढ़ हुआ और छठी शती के उत्तरार्द्ध में जीवस्थानों, मार्गणास्थानों और गुणस्थानों के सह-सम्बन्ध निश्चित हुए। गुणस्थान के इस ऐतिहासिक विकासक्रम को समझने के लिए नीचे हम दो सारणियाँ प्रस्तुत कर रहे हैं—

तो उमास्वाति ने अपने मूल ग्रन्थ तत्त्वार्थसूत्र में या उसकी स्वोपज्ञ टीका तत्त्वार्थभाष्य में उसका उल्लेख क्यों नहीं किया? जबकि उन्होंने तत्त्वार्थसूत्र के नवें अध्याय में आध्यात्मिक विशुद्धि (कर्म-निर्जरा) की दस अवस्थाओं को सूचित करते हुए एक लम्बा सूत्र बनाया है। यदि उनके सामने गुणस्थान की अवधारणा होती तो निश्चय ही वे उस सूत्र के स्थान पर उसका प्रतिपादन करते, क्योंकि प्रस्तुत सूत्र में जिन दस अवस्थाओं का निर्देश है उनमें और गुणस्थानों के नामकरण एवं क्रम में बहुत कुछ समानता है। मेरी दृष्टि में तो इन्हीं दस अवस्थाओं के आधार पर ही गुणस्थान सिद्धान्त का विकास हुआ है। इस सूत्र में गुणस्थान की अवधारणा से सम्बन्धित कुछ पारिभाषिक शब्द— जैसे दर्शन-मोह-उपशमक, दर्शन-मोह-क्षपक (चारित्र-मोह) उपशमक, (चारित्र-मोह) क्षपक, उपशान्तमोह, क्षीणमोह, केवली (जिन) आदि उपलब्ध होते हैं। इससे ऐसा लगता है कि तत्त्वार्थसूत्र और उसके स्वोपज्ञभाष्य के रचनाकाल तक जैन परम्परा में गुणस्थान की अवधारणा का विकास नहीं हो पाया था, यद्यपि इस अवधारणा के मूल बीज उपस्थित थे। ऐतिहासिक दृष्टि से यह बात भी महत्त्वपूर्ण है कि समवायांग और षट्खण्डागम के प्रारम्भ में १४ गुणस्थानों के नामों का स्पष्ट निर्देश होकर भी उन्हें गुणस्थान नाम से अभिहित नहीं किया गया है। जहाँ समवायांग उन्हें जीवस्थान कहता है वहाँ प्रस्तुत जीवसमास एवं षट्खण्डागम में उन्हें जीवसमास कहा गया है। इससे यह सिद्ध होता है कि जीवसमास और षट्खण्डागम— ये दोनों ग्रन्थ प्राचीन स्तर के श्वेताम्बर आगमों, कसायपाहुडसुत्त, तत्त्वार्थसूत्र और तत्त्वार्थभाष्य से परवर्ती है और इन अवस्थाओं के लिए गुणस्थान शब्द का स्पष्ट उल्लेख करने वाली श्वेताम्बर-दिगम्बर रचनाओं से पूर्ववर्ती हैं। साथ ही ये दोनों ग्रन्थ समकालीन भी हैं, क्योंकि हम देखते हैं कि छठी शताब्दी उत्तरार्द्ध और उसके पश्चात् के श्वेताम्बर-दिगम्बर ग्रन्थों में विशेष रूप से कर्म-सिद्धान्त सम्बन्धी ग्रन्थों तथा तत्त्वार्थसूत्र की टीकाओं में इन अवस्थाओं के लिए गुणस्थान शब्द का प्रयोग स्पष्टतया किया जाने लगा था।

इससे यह भी फलित होता है कि जैन परम्परा में लगभग तीसरी-चौथी शताब्दी तक गुणस्थान की अवधारणा अनुपस्थित थी। लगभग पाँचवीं शताब्दी में यह सिद्धान्त अस्तित्व में आया, किन्तु तब इसे गुणस्थान न कहकर जीवस्थान या जीवसमास कहा गया। लगभग छठी शताब्दी से इसके लिए गुणस्थान शब्द रूढ़ हो गया।

जिस प्रकार जीवसमास की प्रथम गाथा में गुणस्थान के लिए 'गुण' का प्रयोग हुआ है, उसी प्रकार मूलाचार में भी इनके लिए 'गुण' शब्द का प्रयोग हुआ है। उसमें चौदह गुणस्थानों का उल्लेख भी है। भगवती आराधना में यद्यपि

गुणस्थान सिद्धान्त का उद्भव एवं विकास

सारिणी क्रमांक - १

तत्त्वार्थ एवं तत्त्वार्थ-भाष्य	कसायपाहुडसुत्त	समवायांग / षट्-खण्डागम / जीव-समास	श्वेताम्बर-दिगम्बर तत्त्वार्थ की टीकाएँ एवं आराधना, मूलाचार समयसार, नियमसार आदि।
१	२	३	४
३री-४थी शती	४थी शती	५वीं-६ठी शती	६ठी शती या उसके पश्चात्
गुणस्थान, जीव-समास, जीवस्थान, मार्गणा आदि शब्दों का पूर्ण अभाव।	गुणस्थान, जीवस्थान, जीवसमास आदि शब्दों का अभाव, किन्तु मार्गणा शब्द पाया जाता है।	समवायांग में गुणस्थान शब्द का अभाव किन्तु जीवठाण का उल्लेख है जबकि जीवसमास एवं षट्-खण्डागम में प्रारम्भ में जीवसमास और बाद में गुणस्थान के नाम से १४ अवस्थाओं का चित्रण।	गुणस्थान शब्द की स्पष्ट उपस्थिति।
कर्मविशुद्धि या आध्यात्मिक विकास की दस अवस्थाओं का चित्रण, मिथ्यात्व का अन्तर्भाव करने पर ११ अवस्थाओं का उल्लेख।	कर्मविशुद्धि या आध्यात्मिक विकास की दृष्टि से मिथ्यादृष्टि की गणना करने पर प्रकार भेद से कुल १३ अवस्थाओं का उल्लेख।	१४ अवस्थाओं का उल्लेख है।	१४ अवस्थाओं का उल्लेख है।
सास्वादन, सम्यक्-मिथ्यादृष्टि और अयोगी केवली दशा का पूर्ण अभाव।	सास्वादन (सासादन) और अयोगी केवली अवस्था का पूर्ण अभाव, किन्तु सम्यक्मिथ्यादृष्ठि की उपस्थिति।	सास्वादन, सम्यक् मिथ्यादृष्टि (मिश्र-दृष्टि) और अयोगी केवली आदि का उल्लेख है।	उल्लेख है।

अप्रमत्तसंयत, अपूर्व करण (निवृत्तिबादर) अनिवृत्तिकरण (अ-निवृत्तिबादर) जैसे नामों का अभाव।	अप्रमत्तसंयत, अपूर्व-करण (निवृत्तिबादर) अनिवृत्तिकरण (अ-निवृत्तिबादर) जैसे नामों का अभाव है।	उल्लेख है	उल्लेख है
उपशम और क्षय का विचार है, किन्तु ८वें गुणस्थान से उपशम और क्षायिक श्रेणी से अलग-अलग आरोहण होता है। ऐसा विचार नहीं है।	उपशम और क्षपक का विचार है, किन्तु ८वें गुणस्थान से उपशम श्रेणी और क्षपक श्रेणी से अलग अलग आरोहण होता हैं। ऐसा विचार नहीं है।	अलग-अलग श्रेणी-विचार उपस्थित।	अलग-अलग श्रेणी-विचार उपस्थित।
पतन की अवस्था का कोई चित्रण नहीं है।	पतन की अवस्था का कोई चित्रण नहीं है।	पतन आदि का मूल पाठ में चित्रण नहीं है।	इन व्याख्या ग्रन्थों में पतन आदि का चित्रण हैं।
जीवस्थान, मार्गणा-स्थान और गुणस्थान के सह-सम्बन्ध की चर्चा का अभाव है।	जीवस्थान मार्गणा-स्थान और गुणस्थान के सह-सम्बन्धों की कोई चर्चा नहीं है।	समवायांग मूलपाठ में जीवस्थान और गुणस्थान दोनों को जीवस्थान ही कहा गया है। इसमें इनके सह-सम्बन्ध की कोई चर्चा नहीं है, किन्तु जीवसमास एवं षट्-खण्डागम मूल में इनके सह-सम्बन्धों की चर्चा है।	सहसम्बन्ध की चर्चा है।

सारिणी संख्या : २

तत्त्वार्थसूत्र (तीसरी-चौथी शती)	कसायपाहुड (४थी शती उत्तरार्ध)	समवायांग/ षट्खण्डागम (लगभग ५वी शती)	तत्त्वार्थ की टीकाएँ (लगभग छठीं शती)
मिथ्यात्त्व (इस सन्दर्भ में इसे परिगणित नहीं किया है)	मिच्छादिट्ठि (मिथ्यादृष्टि)	मिच्छादिट्ठि (मिथ्यादृष्टि)	मिथ्यादृष्टि

– –	– –	सस्वादन सम्यक्दृष्टि (सासायण-सम्मदिट्ठी)	सास्वादन
– –	सम्मा-मिच्छाइट्ठो (मिस्सगं)	सम्मा-मिच्छादिट्ठी (सम्यक्मिथ्यादृष्टि)	सम्यगमिथ्यादृष्टि (मिश्रदृष्टि)
१. सम्यग्दृष्टि	सम्माइट्ठी (सम्यक्-दृष्टि) अविरदीए	अविरय सम्मादिट्ठी	सम्यग्दृष्टि
२. श्रावक	विरदाविरदे (विरत-अविरत) देसविरयी (सागार)संजमासंजम	विरयाविरए (विरत-अविरत)	देशविरत
३. विरत	विरद (संजम)	पमत्तसंजए	प्रमत्तसंयत
४. अनन्तवियोजक	दंसणमोह उवसागमे (दर्शनमोह उपशामक)	अपमत्तसंजए	अप्रमत्तसंयत
५. दर्शनमोह-क्षपक	दंसणमोह खवगे (दर्शनमोह-क्षपक)	निअट्टिबायरे	अपूर्वकरण
६. (चारित्रमोह) उपशमक	चरितमोहस्स उपसामगे (उवसामणा)	अनिअट्टिबायरे	अनिवृत्तिकरण
– –	सुहुमरागो	सुहुम-संपराए	सूक्ष्म-सम्पाराय
७. उपशान्त चारित्रमोह	उवसंत कसाय खवगे	उवसंत मोहे	उपशान्त-मोह
८. चारित्रमोह क्षपक	– –	– –	– –
९. क्षीणमोह	खीणमोह (छद्मुमत्थो-वेदगो)	खीणमोहे	क्षीणमोह
१०. जिन	जिण केवली सव्वण्हू सव्वदरिसी (ज्ञातव्य है कि चूर्णि में 'सजोगिजिणो' शब्द है, मूल में नहीं है)	सजोगी केवली	सयोगी केवली

	चूर्णि में योगनिरोध का उल्लेख है, किन्तु मूल में नहीं हैं	अयोगी केवली	अयोगी केवली

ग्रन्थ की भाषा एवं शैली

जहाँ तक जीवसमास की भाषा का प्रश्न है, वह स्पष्टतया महाराष्ट्री प्राकृत है। इससे इसके सम्बन्ध में दो बातें निश्चित होती हैं— एक तो यह कि इसकी रचना सौराष्ट्र और राजस्थान में ही कहीं हुई होगी, क्योंकि यदि इसकी रचना मगध या शौरसेन में हुई होती तो इसकी भाषा में आर्ष अर्द्धमागधी अथवा शौरसेनी प्राकृत होती। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि इसकी रचना संघभेद के पश्चात् श्वेताम्बर परम्परा में हुई है क्योंकि इस युग के दिगम्बर ग्रन्थ प्राय: शौरसेनी या महाराष्ट्री प्रभावित शौरसेनी में पाये जाते हैं। यद्यपि प्रस्तुत कृति महाराष्ट्री प्राकृत की रचना है, फिर भी इसमें कहीं-कहीं आर्ष अर्धमागधी के प्रयोग देखे जाते हैं।

जहाँ तक जीवसमास की शैली का प्रश्न है, निश्चय ही यह षट्खण्डागम के समरूप प्रतीत होती है, क्योंकि दोनों ही ग्रन्थ चौदह मार्गणाओं एवं छह और आठ अनुयोगद्वारों के आधारों पर चौदह गुणस्थानों की चर्चा करते हैं। यद्यपि षट्खण्डागम की जीवसमास से अनेक अर्थों में भिन्नता है, जहाँ षट्खण्डागम सामान्यतया शौरसेनी में लिख गया है वहाँ जीवसमास सामान्यतया महाराष्ट्री प्राकृत में लिखा गया है। पुन: जहाँ षट्खण्डागम गद्य में है वहाँ जीवसमास पद्य में है। जहाँ जीवसमास संक्षिप्त है, वहाँ षट्खण्डागम व्याख्यात्मक है। फिर भी विषय प्रस्तुतीकरण की शैली एवं विषयवस्तु को लेकर दोनों में पर्याप्त समरूपता भी हैं। षट्खण्डागम के प्रारम्भिक खण्ड जीवस्थान के समान इसका भी प्रारम्भ सत्पदप्ररूपणा से होता है। इसमें भी गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, दर्शन, संयम लेश्या, भव, सम्यक्, संज्ञा और आहार— इन चौदह मार्गणाओं के सन्दर्भ में चौदह गुणस्थानों की चर्चा है। षट्खण्डागम के प्रथम जीवस्थान के समान इसमें भी वही नाम वाले आठ अनुयोगद्वार है— १. सत्पदप्ररूपणाद्वार, २. परिमाणद्वार, ३. क्षेत्रद्वार, ४. स्पर्शनाद्वार, ५. कालद्वार, ६. अन्तर्द्वार, ७. भावद्वार, ८. अल्पबहुत्वद्वार।

इस प्रकार विषय प्रतिपादन में दोनों में अद्भुत शैलीगत समरूपता है। फिर भी षट्खण्डागम की अपेक्षा जीवसमास संक्षिप्त है। ऐसा लगता है कि षट्खण्डागम का प्रथम खण्ड जीवसमास की ही व्याख्या हो।

जीवसमास के आधारभूत ग्रन्थ

जीवसमास ग्रन्थ वस्तुत: दृष्टिवाद से उद्धृत किया गया है, क्योंकि उसकी

अन्तिम गाथा में स्पष्ट रूप से यह उल्लेख है कि जिनोपदिष्ट बहुभंग वाले दृष्टिवाद के दृष्टि-स्थान से जीवसमास नामक यह ग्रन्थ उद्धृत किया गया है। यद्यपि जीवसमास की विषयवस्तु से सम्बन्धित अनेक विषयों की चर्चा भगवती, प्रज्ञापना, जीवाजीवाभिगम, अनुयोगद्वार आदि श्वेताम्बर मान्य आगमों में मिलती है, किन्तु यह कहना कठिन है कि इस ग्रन्थ की रचना इन ग्रन्थों के आधार पर हुई है, क्योंकि अनेक प्रश्नों पर प्रस्तुत ग्रन्थ का मत भगवती, प्रज्ञापना आदि से भिन्न प्रतीत होता है। इसमें वर्णित अनेक विषय जैसे मार्गणाओं और गुणस्थानों के सह-सम्बन्ध आदि ऐसे हैं, जिनका श्वेताम्बर मान्य इन आगमों में कोई उल्लेख ही नहीं है, किन्तु आगमों की वलभी वाचना से परवर्ती चन्द्रर्षि महत्तर के प्राचीन कर्मग्रन्थों (छठी शती) में ये विषय चर्चित है। इससे यही सिद्ध होता है कि ग्रन्थकार ने जो दृष्टिवाद से इसको अवतरित करने की बात कही वह आंशिक सत्य अवश्य है, क्योंकि कर्मों के बन्ध, उदय, क्षयोपशम आदि का विषय कम्मपयडी आदि पूर्व साहित्य के अंगीभूत ग्रन्थों में ही अधिक सूक्ष्मता से विवेचित था। जैन परम्परा में अंगधरों के समान ही पूर्वधरों की एक स्वतन्त्र परम्परा रही है और कर्म-साहित्य विशेष रूप से पूर्व-साहित्य का अंग रहा है। पुनः आगमिक मान्यताओं की अपेक्षा इसके मन्तव्यों का कर्मग्रन्थकारों के अधिक निकट होना भी इस तथ्य की पुष्टि करता है। आगमों, कर्मग्रन्थों और जीवसमास के मन्तव्यों में कहाँ समरूपता है और कहाँ मतभेद है यह सब विस्तार से अन्वेषणीय है।

षट्खण्डागम और जीवसमास

जैसा कि हमने पूर्व में अनेक स्थलों पर संकेत किया कि जीवसमास की सम्पूर्ण विषयवस्तु अपने **वर्णित** विषय और शैली की दृष्टि से षट्खण्डागम के प्रथम खण्ड जीवस्थान से पूर्णतः समरूपता रखती है। मात्र अन्तर यह है कि जहाँ जीवसमास में यह वर्णन मात्र २८६ गाथाओं में किया गया है वही वर्णन षट्खण्डागम के जीवस्थान में १८६० सूत्रों के द्वारा किया गया। दूसरा महत्त्वपूर्ण अन्तर षट्खण्डागम और जीवसमास में यह है कि प्रत्येक अनुयोगद्वार की प्रत्येक प्ररूपणा के आधारभूत तथ्यों की जो विस्तृत चर्चा लगभग १११ गाथाओं में जीवसमास में की गई है, वह षट्खण्डागम के जीवस्थान में तो नहीं है, किन्तु उसकी धवला टीका में अवश्य उपलब्ध होती है।

इस आधार पर यह कल्पना की जा सकती है कि क्या जीवसमासकार ने षट्खण्डागम के आधार पर ही तो इसकी रचना नहीं की है? किन्तु ऐसा नहीं है। इस सम्बन्ध में हम अपनी ओर से कुछ न कहकर षट्खण्डागम के विशिष्ट विद्वान् उसके सम्पादक और भूमिका लेखक पं० हीरालाल जी शास्त्री

का मन्तव्य, उनकी षट्खण्डागम की भूमिका से उद्धृत करके अविकल रूप से दे रहे हैं। उनके निबन्ध का निष्कर्ष यही है कि— "किसी पूर्ववेत्ता आचार्य ने दिन पर दिन क्षीण होती हुई लोगों की बुद्धि और धारणा शक्ति को देखकर ही प्रवचन-वात्सल्य से प्रेरित होकर इसे गाथा रूप में निबद्ध कर दिया है और **वह आचार्य परम्परा से प्रवहमान होता हुआ धरसेनाचार्य को प्राप्त हुआ है।** उसमें जो कथन स्पष्ट था, उसकी व्याख्या में अधिक बल न देकर जो अप्ररूपित मार्गणाओं का गूढ़ अर्थ था, उसका उन्होंने भूतबलि और पुष्पदन्त को विस्तार से विवेचन किया और उन्होंने भी उसी गूढ़ रहस्य को अपनी रचना में स्पष्ट करके कहना या लिखना उचित समझा।"

मात्र इतना ही नहीं दिगम्बर परम्परा के बहुश्रुत विद्वान् आदरणीय पण्डित जी ने अपनी भूमिका के उपसंहार में इस तथ्य को स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है कि जीवसमास षट्खण्डागम के जीवट्ठाण प्ररूपणाओं का आधार रहा है। वे लिखते है कि—

इस प्रकार जीवसमास की रचना देखते हुए उसकी महत्ता हृदय पर स्वतः ही अंकित हो जाती है और इस बात में कोई सन्देह नहीं रहता कि उसके निर्माता पूर्ववेत्ता थे, या नहीं? क्योंकि उन्होंने उपर्युक्त उपसंहार गाथा में स्वयं ही 'बहुभंगदिट्ठियाए' पद देकर अपने पूर्ववेत्ता होने का संकेत कर दिया है।

समग्र जीवसमास का सिंहावलोकन करने पर पाठकगण दो बातों के निष्कर्ष पर पहुँचेंगे— एक तो यह कि विषय वर्णन की सूक्ष्मता और महत्ता की दृष्टि से यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है और दूसरी यह कि यह षट्खण्डागम के जीवट्ठाण-प्ररूपणाओं का आधार रहा है।"

मात्र इतना ही नहीं वे इस तथ्य को भी स्वीकार करते हैं कि श्वेताम्बर संस्थाओं से प्रकाशित 'पूर्वभृत्सूरिसूत्रित' जीवसमास प्राचीन है और षट्खण्डागम के जीवस्थान और दिगम्बर प्राकृत पञ्चसंग्रह के जीवसमास का किसी रूप में उपजीव्य भी रहा है। मात्र आदरणीय पण्डित जी ने षट्खण्डागम की भूमिका के अन्त में यह अवश्य माना है कि जीवसमास में एक ही बात खटकने जैसी है, वह यह कि उसमें सोलह स्वर्गों के स्थान पर १२ स्वर्गों के ही नाम हैं। वे लिखते हैं— "यद्यपि जीवसमास की एक बात अवश्य खटकने जैसी है कि उसमें १६ स्वर्गों के स्थान पर १२ स्वर्गों के ही नाम हैं और नव अनुदिशों का भी नाम-निर्देश नहीं है, तथापि जैसे तत्त्वार्थसूत्र के 'दशाष्टपञ्चद्वादशविकल्पाः' इत्यादि सूत्र में १६ के स्थान पर १२ कल्पों का निर्देश होने पर भी इन्द्रों की विवक्षा करके और 'नवसु ग्रैवेयकेषु विजयादिषु' इत्यादि सूत्र में अनुदिशों के नाम का निर्देश नहीं होने पर भी उसकी 'नवसु' पद से सूचना मान करके

समाधान कर लिया गया है उसी प्रकार से यहाँ भी समाधान किया जा सकता है।"

यद्यपि आदरणीय पण्डित जी ने दिगम्बर परम्परा की दृष्टि से यहाँ इस समस्या का समाधान तत्त्वार्थसूत्र के उस सूत्र की, सवार्थसिद्धि की व्याख्या के आधार पर करने का किया है। किन्तु यहाँ मेरा दृष्टिकोण कुछ भिन्न है। षट्खण्डागम में ऐसे अनेक तथ्य पाये जाते हैं जो दिगम्बर परम्परा की आज की मूलभूत मान्यताओं से अन्तर रखते हैं। यदि हम यहाँ स्त्री में सातवें गुणस्थान की सम्भावना और स्त्री-मुक्ति के समर्थक उसके प्रथम खण्ड सूत्र ९३ की विवादास्पद व्याख्या को न भी लें, तो भी कुछ प्राचीन मान्यताएँ षट्खण्डागम की ऐसी हैं, जो प्रस्तुत जीवसमास से समरूपता रखती हैं और दिगम्बर परम्परा की वर्तमान मान्यताओं से भिन्नता। आदरणीय पण्डित जी ने यहाँ यह प्रश्न उठाया है कि जीवसमास में १२ स्वर्गों की ही मान्यता है, किन्तु स्वयं षट्खण्डागम में भी १२ स्वर्गों की ही मान्यता है। उसके वर्गणाखण्ड के प्रकृति अनुयोगद्वार की निम्न गाथाएँ १२ स्वर्गों का ही निर्देश करती है—

सक्कीसाणा पठमं दोच्चं तु सणक्कुमार-माहिंदा।

तच्च तु बम्ह-लंतय सुक्क-सहस्सारया चोत्थ।।

—५/५/७०; पृष्ठ सं०- ७०५

आणद-पाणदवासी तह आरण-अच्चुदा य जे देवा।

पस्संति पंचमखिदिं छट्ठिम गेवज्जया देवा।। – ५/५/७१

सव्वं च लोगणालिं पस्संति अणुत्तरेसु जे देवा।

सक्खेत्ते य सकम्मे रूवगदमणंतभागं च।।

— ५/५/७२; पृष्ठ सं०- ७०६

मात्र यह ही नहीं, जिस प्रकार जीवसमास में पाँच ही मूल नयों की चर्चा हुई है, उसी प्रकार षट्खण्डागम में भी सर्वत्र उन्हीं पाँच नयों का निर्देश हुआ है। तत्त्वार्थसूत्र की प्राचीन भाष्यमान परम्परा भी पाँच मूल नयों का ही निर्देश करती है, जबकि सर्वार्थसिद्धि मान्य पाठ में सात नयों की चर्चा है। वस्तुतः तत्त्वार्थसूत्र का भाष्यमान पाठ षट्खण्डागम और जीवसमास किसी प्राचीन धारा का प्रतिनिधित्व करते हैं। चाहे हम परम्परागत आधारों पर इन्हें एक-दूसरे के आधार पर बनाया गया न भी मानें तो भी इतना तो निश्चित ही है कि उनका मूल आधार पूर्वसाहित्य की परम्परा रही है।

श्वेताम्बर जीवसमास और दिगम्बर जीवसमास

प्रस्तुत जीवसमास के समान ही दिगम्बर परम्परा में प्राकृत पञ्चसंग्रह के अन्तर्गत जीवसमास पाया जाता है। दोनों के नाम साम्य को देखकर स्वाभाविक रूप से यह जिज्ञासा होती है कि इन दोनों में कितना साम्य और वैषम्य है और कौन किसके आधार पर निर्मित हुआ है। इस सम्बन्ध में भी यदि मैं अपनी ओर से कुछ कहता हूँ तो शायद यह समझा जायेगा कि मुझे कुछ पक्ष व्यामोह है। अत: इस सम्बन्ध में भी अपनी ओर से कुछ न कहकर पुन: दिगम्बर परम्परा के बहुश्रुत विद्वान् पण्डित हीरालाल जी शास्त्री की पञ्चसंग्रह की भूमिका से ही कुछ अंश अविकल रूप से उद्धृत कर रहा हूँ। आदरणीय पण्डित जी लिखते हैं —

"पञ्चसंग्रह के प्रथम प्रकरण का नाम जीवसमास है। इस नाम का एक ग्रन्थ श्री ऋषभदेवजी केशरीमलजी श्वेताम्बर संस्था रतलाम की ओर से सन् १९२८ में एक संग्रह के भीतर प्रकाशित हुआ है, जिसकी गाथा संख्या २८६ है। नाम-साम्य होते हुए भी अधिकांश गाथाएँ न विषय-गत समता रखती हैं और न अर्थगत समता ही। गाथा-संख्या की दृष्टि से भी दोनों में पर्याप्त अन्तर है। फिर भी जितना कुछ साम्य पाया जाता है, उनके आधार पर एक बात सुनिश्चित रूप से कही जा सकती है कि **श्वेताम्बर संस्थाओं से प्रकाशित जीवसमास प्राचीन है।** पञ्चसंग्रहकार ने उसके द्वारा सूचित अनुयोगद्वारों में से १-२ अनुयोगद्वार के आधार पर अपने जीवसमास प्रकरण की रचना की है। इसके पक्ष में कुछ प्रमाण निम्नप्रकार है—

१. श्वेताम्बर संस्थाओं से प्रकाशित जीवसमास को 'पूर्वभृत्सूरिसूत्रित' माना जाता है। इसका यह अर्थ है कि जब जैन परम्परा में पूर्वो का ज्ञान विद्यमान था, उस समय किसी पूर्ववेत्ता आचार्य ने इसका निर्माण किया है। ग्रन्थ-रचना के देखने से ऐसा ज्ञात होता है कि **यह ग्रन्थ भूतबलि और पुष्पदन्त से भी प्राचीन है और वह षट्खण्डागम के जीवट्ठाण नामक प्रथम खण्ड की आठों प्ररूपणाओं के सूत्र-निर्माण में आधार रहा है, तथा यही ग्रन्थ प्रस्तुत पञ्चसंग्रह के जीवसमास नामक प्रथम प्रकरण का भी आधार रहा है।** इसकी साक्षी में उक्त ग्रन्थ की एक गाथा प्रमाण रूप से उपस्थित की जाती है जो कि श्वेताम्बर जीवसमास में मंगलाचरण के पश्चात् ही पाई जाती है। वह इस प्रकार है—

णिक्खेव-णिरुत्तीहिं य छहिं अट्ठहिं अणुओगदारेहिं।
गइआइमग्गणाहि य जीवसमासाऽणुगंतव्वा ।।२।।

इसमें बतलाया गया है कि नामादि निक्षेपों के द्वारा; निरुक्ति के द्वारा, निर्देश, स्वामित्व आदि छह और सत्, संख्या आदि आठ अनुयोग-द्वारों से तथा गति आदि चौदह मार्गणा-द्वारों से जीवसमास को जानना चाहिए। इसके पश्चात् उक्त सूचना के अनुसार ही सत्-संख्यादि आठों प्ररूपणाओं आदि का मार्गणास्थानों में वर्णन किया गया है। इस जीवसमास प्रकरण की गाथा-संख्या की स्वल्पता और जीवट्ठाण के आठों प्ररूपणाओं की सूत्र-संख्या की विशालता ही उसके निर्माण में एक दूसरे की आधार-आधेयता को सिद्ध करती है।

जीवसमास की गाथाओं और षट्खण्डागम के जीवस्थानखण्ड को आठों प्ररूपणाओं का वर्णन-क्रम विषय की दृष्टि से कितना समान है, यह पाठक दोनों का अध्ययन कर स्वयं ही अनुभव करें।

प्रस्तुत पञ्चसंग्रह के जीवसमास प्रकरण के अन्त में उपसंहार करते हुए जो १८२ अंक-संख्या वाली गाथा पायी जाती है, उससे भी हमारे उक्त कथन की पुष्टि होती है। वह गाथा इस प्रकार है—

णिक्खेवे एयट्ठे णयप्पमाणे णिरुक्ति-अणिओगे।

मग्गइ वीसं भेए सो जाणइ जीवसब्भावं।।

अर्थात् जो पुरुष निक्षेप, एकार्थ, नय, प्रमाण, निरुक्ति और अनुयोगद्वारों से मार्गणा आदि बीस भेदों में जीव का अन्वेषण करता है, वह जीव के यथार्थ सद्भाव या स्वरूप को जानता है।

पाठक स्वयं ही देखें कि पहली गाथा की बात को ही दूसरी गाथा के द्वारा प्रतिपादित किया गया है। केवल एक अन्तर दोनों में है। वह यह कि पहली गाथा उक्त प्रकरण के प्रारम्भ में दी है, जबकि दूसरी गाथा उस प्रकरण के अन्त में। पहले प्रकरण में प्रतिज्ञा के अनुसार प्रतिपाद्य विषय का प्रतिपादन किया गया है, जब कि दूसरे प्रकरण में केवल एक निर्देश अनुयोगद्वार से १४ मार्गणाओं में जीव की विंशतिविधा सत्प्ररूपणा की गई है और शेष संख्यादि प्ररूपणाओं को न कहकर उनके जानने की सूचना कर दी गई है।

२. पृथिवी आदि षट्कायिक जीवों के भेद प्रतिपादन करने वाली गाथाएँ भी दोनों जीवसमासों में बहुत कुछ समता रखती हैं।

३. प्राकृत वृत्तिवाले जीवसमास की अनेक गाथाएँ उक्त जीवसमास में ज्यों-की-त्यों पाई जाती है।

उक्त समता के होते हुए भी पञ्चसंग्रहकार ने उक्त जीवसमास-प्रकरण की अनेक गाथाएँ जहाँ संकलित की हैं, वहाँ अनेक गाथाएँ उन पर भाष्यरूप से

रची है और अनेक गाथाओं का आगम के आधार पर स्वयं भी स्वतन्त्र रूप से निर्माण किया है। (पृ० ३७) फिर भी यह सत्य है कि दोनों जीवसमासों में कुछ गाथायें समान हैं। अनुवादिका साध्वी श्री विद्युत्प्रभाश्री जी के सहयोग से जो कुछ समान गाथाएं हमें प्राप्त हो सकी वे नीचे दी जा रही हैं—

जीवसमास- पञ्चसंग्रह : तुलनात्मक अध्ययन

(१) मार्गणा

जीवसमास—

गइ इन्दिय काए जोए वेए कसाय नाणे य।
संजम दंसण लेसा भव सम्मे सन्नि आहारे।। ६ ।।

पञ्चसंग्रह—

गइ इन्दियं च काए जोए वेए कसाय णाणे य।
संजम दंसण लेस्सा भविया सम्मत सण्णि आहारे ।। ५७ ।।

(२) जीव के भेद

जीवसमास—

एगिंदिया य बायरसुहुमा पज्जतया अपज्जत्ता।
बियतिय चउरिंदिय दुविह भेय पज्जत इयरे य।। २३ ।।
पंचिन्दिया असण्णी सण्णी पज्जत्तया अपज्जत्ता।
पंचिदिएसु चोद्दस मिच्छदिट्ठि भवे सेसा ।। २४ ।।

पञ्चसंग्रह—

बायरसुहुमेगिंदिय बि-ति-चउरिंदिय असण्णी-सण्णीय।
पज्जत्तापज्जत्ता एवं चौद्दसा होंति ।। ३४ ।।

(३) गुणस्थान

जीवसमास—

मिच्छाऽऽसायण मिस्सा अविरयसम्मा य देसविरया य।
विरया पमत्त इयरे अपुव्व अणियट्टि सुहुमा य।। ८ ।।
उवसंत खीणमोहा सजोगी केवलिजिणो अजोगी य।
चौद्दस जीवसमासा कमेण एएऽणुगंतव्वा ।। ९ ।।

(३) तेउकाय

जीवसमास—

इंगाल जाल अच्ची मुम्मुर सुद्धागणी य अगणी य।
वण्णाईहि य भेया सुहुमाणं नत्थि ते भेया।। ३२ ।।

पञ्चसंग्रह—

इंगाल जाल अच्ची मुम्मुर सुद्धागणी य अगणी य।
अण्णेवि एवमाई तेउक्काया समुदिट्ठा।।७९।।

(४) वायुकाय

जीवसमास—

वाउब्भामे ऊक्कलि मंडलिगुंजा महाधणतणु या।
वण्णाईहि य भेया सुहुमाण नत्थि ते भेया।। ३३ ।।

पञ्चसंग्रह—

वाउब्भामो उक्कलि मंडलि गुंजा महाघण तणू य।
एदे दु वाउकाया जीवा जिणसासणे दिट्ठा।। ८० ।।

(५) वनस्पतिकाय

जीवसमास—

मूलग्गपोरबीया कंदा तह खंधबीय बीयरूहा।
संभुच्छिमा य भणिया पत्तेय अणंतकाया या।। ३४ ।।

पञ्चसंग्रह—

मूलग्गपोरबीया कंदा तह खंध बीय बीयरूहा।
सम्मुच्छिमा य भणिया पत्तेयाणंतकाया य ।। ८१ ।।

नरकों में लेश्या

जीवसमास—

काऊ काऊ तह काऊनील नीला य नीलकिण्हा य।
किण्हा य परमकिण्हा लेसा रयणप्पभाइणं।। ७२ ।।

पञ्चसंग्रह—

काऊ काऊ तह काउ-णील णीला य णील-किण्हा य।
किण्हा य परमकिण्हा लेसा रयणादि-पुढवीसु ।। १८५ ।।

पञ्चसंग्रह—

मिच्छोसासण मिस्सो अविरदसम्मो य देसविरदो य।
विरदो पमत्त इयरो अपुव्व अणियट्टि सुहमो य।। ४ ।।
उवसंत खीणमोहो सजोगिकेवली जिणो अजोगी य।
चौद्दस गुणट्ठाणाणि य कमेण सिद्धा य णायव्वा ।। ५ ।।

(४) पर्याप्ते

जीवसमास—

आहार सरीरिंदिय पज्जत्ती आणपाण भासमणे।
चत्तारि पंचछप्पिय एगिंदिय विगल सण्णीणं।। २५ ।।

पञ्चसंग्रह—

आहारसरीरिंदियपज्जत्ती आणपाणभासमणो।
चत्तारि पंच छप्पि य एइंदिय-वियल-सण्णीणं।। ४४ ।।

(१) पृथ्वीकाय

जीवसमास—

पुढवी य सक्कर बालुया य उवले सिला य लोणूसे।
अयतंब तउय सीसय रूपा सुवण्णे य वइर य।। २७ ।।

पञ्चसंग्रह—

पुढवी य सक्करा वालुया य उवले सिलाइ छत्तीसा।
पुढवीमया हु जीवा णिद्दिट्ठा जिणवरिंदेहिं ।। ७७ ।।

(२) अप्पकाय

जीवसमास—

ओसा य हिमं महिगा हरतणु सुद्धोदए घणोए य।
वण्णाईहि य भेया सुहुमाणं नत्थि ते भेया।। ३१ ।।

पञ्चसंग्रह—

ओसा य हिमिय महिया हरदणु सुद्धोदयं घणुदयं च।
एदे दु आउकाया जीवा जिणसासणे दिट्ठा।। ७८ ।।

देवों में लेश्या

जीवसमास—

तेऊ तेऊ तह तेऊ पम्ह पम्हा य पम्हसुक्का य।
सुक्का य परमसुक्का सक्कादिविमाणवासीणं ।। ७३ ।।

पञ्चसंग्रह—

तेऊ तेऊ वह तेउ-पम्ह पम्मा य पम्म-सुक्का य।
सुक्का य परमसुक्का लेसा भवणाइदेवाणं।। १८९ ।।

भव्यत्व

जीवसमास—

मिच्छदिट्ठि अभव्वा भवसिद्धाया य सव्वठाणेसु।
सिद्धा नेव अभव्वा नवि भव्वा हुंति नायव्वा ।। ७५ ।।

पञ्चसंग्रह—

ण य जे भव्वाभव्वा मुत्तिसुहा होंति तीदसंसारा।
ते जीवा णायव्वा णो भव्वा णो अभव्वा य।। १५७ ।।

आहारक

जीवसमास—

विग्गहगइमावन्ना केवलिणो समुहया अजोगी य।
सिद्धा य अणाहारा सेसा आहारगा जीवा ।। ८२ ।।

पञ्चसंग्रह—

विग्गहगइमावण्णा केवलिणो समुहदो अजोगी य।
सिद्धा य अणाहारा सेसा आहारया जीवा ।। १७७ ।।

समुद्घात

जीवसमास—

वेयण कसाय मरणे वेउव्वि य तेयए य आहारे।
केवलि य समुग्घाए सत्तय मणुएसु नायव्वा।। १९२ ।।

पञ्चसंग्रह—

वेयण कसाय वेउव्विय मारणंतिओ समुग्घाओ।

तेजाऽऽहारो छट्ठो सत्तमओ केवलीणं च ।। १९६ ।।

नरक में अन्तरकाल

जीवसमास—

चउवीस मुहुत्ता सत्त दिवस पक्खो य मास दुग चउरो।

छम्मासा रयणाइसु चउवीस मुहुत्त सण्णियरे ।। २५० ।।

पञ्चसंग्रह—

पणयालीस मुहूत्ता पक्खो मासो य विण्णि चउमासा।

छम्मास वरिसमेय च अंतरं होइ पुढवीणं ।। २०६ ।।

	(१) नरक	(२) नरक	(३) नरक	(४) नरक	(५) नरक	(६) नरक	(७) नरक
जीवसमास	२४ मुहूर्त	७ दिन	१ पक्ष	१ मास	२ मास	४ मास	६ मास।।२५०।।
पञ्चसंग्रह	४५ मुहूर्त	१ पक्ष	१ मास	२ मास	४ मास	६ मास	१ वर्ष-।।२०६।।

सम्यक्त्वादि का विरहकाल

जीवसमास—

सम्मत्त सत्तगं खलु विरयाविरई होइ चोद्दसगं।

विरईए पनरसगं विरहिय कालो अहोरत्ता।। २६२ ।।

पञ्चसंग्रह—

सम्मत्ते सत्त दिणा विरदाविरदे य चउदसा होंति।

विरदेसु य पण्णरसं विरहियकालो य बोहव्वो ।। २०५ ।।

दोनों गाथा का अर्थ समान है। मात्र शब्दों का अन्तर है।

विषयवस्तु

जीवसमास की प्रारम्भिक गाथाओं में ही यह स्पष्ट कर दिया गया है कि इस ग्रन्थ में चार निक्षेपों, छह एवं आठ अनुयोगद्वारों और चौदह मार्गणाओं के आधार पर जीव के स्वरूप का एवं उसके आध्यात्मिक विकास की चौदह अवस्थाओं का अर्थात् चौदह गुणस्थानों का विवेचन किया गया है। सम्पूर्ण ग्रन्थ २८७ प्राकृत गाथाओं में निबद्ध है और निम्न आठ द्वारों में विभक्त किया गया है— (१) सत्पदप्ररूपणा, (२) द्रव्य-परिमाण, (३) क्षेत्र, (४) स्पर्शणा, (५)

काल, (६) अन्तर, (७) भाव और (८) अल्पबहुत्व। इन आठ अनुयोगद्वारों को आधार बनाकर प्रत्येक द्वार में जीव के तत्सम्बन्धी पक्ष की चर्चा की गई हैं। आठ अनुयोगद्वारों के उल्लेख के पश्चात् ग्रन्थ में चौदह मार्गणास्थानों, चौदह जीवस्थानों और चौदह गुणस्थानों के नामों का निर्देश किया गया है। मार्गणा वह है जिसके माध्यम से जीव अपनी अभिव्यक्ति करता है। जीव की शारीरिक, ऐन्द्रिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक शक्तियों की अभिव्यक्तियों के जो मार्ग हैं वे ही मार्गणा कहे जाते हैं। मार्गणाएँ निम्न हैं— (१) गति-मार्गणा, (२) इन्द्रिय-मार्गणा, (३) काय-मार्गणा, (४) योग-मार्गणा, (५) वेद-मार्गणा, (६) कषाय-मार्गणा, (७) ज्ञान-मार्गणा, (८) संयम-मार्गणा, (९) दर्शन-मार्गणा, (१०) लेश्या-मार्गणा, (११) भव्यत्व-मार्गणा, (१२) सम्यक्त्व-मार्गणा, (१३) संज्ञी-मार्गणा और (१४) आहार-मार्गणा। इसी क्रम में आगे चौदह गुणस्थानों का जीवसमास के नाम से निर्देश किया गया हैं। वे चौदह गुणस्थान निम्न हैं—

(१) मिथ्यात्व गुणस्थान, (२) सास्वादन गुणस्थान, (३) मिश्र गुणस्थान, (४) अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान, (५) देश-विरत गुणस्थान, (६) प्रमत्तसंयत गुणस्थान, (७) अप्रमत्तसंयत गुणस्थान, (८) अपूर्वकरण गुणस्थान, (९) अनिवृत्तिबादर गुणस्थान, (१०) सूक्ष्मसम्पराय गुणस्थान, (११) उपशान्तमोह गुणस्थान, (१२) क्षीणमोह गुणस्थान, (१३) सयोगीकेवली गुणस्थान और (१४) अयोगीकेवली गुणस्थान।

इन प्रारम्भिक निर्देशों के पश्चात् जीवसमास के प्रथम **सत्पदप्ररूपणाद्वार** में उपर्युक्त चौदह मार्गणाओं के सन्दर्भ में उनकी भेद-प्रभेदों की चर्चा करते हुए यह स्पष्ट किया गया है कि किस मार्गणा के किस भेद अथवा प्रभेद में कितने गुणस्थान उपलब्ध होते हैं। वस्तुतः प्रथम सत्पदप्ररूपणा द्वार चौदह मार्गणाओं और चौदह गुणस्थानों के पारस्परिक सह-सम्बन्धों को स्पष्ट करता है। हमारी जानकारी में अचेल परम्परा में षट्खण्डागम और सचेल परम्परा में जीवसमास ही वे प्रथम ग्रन्थ है जो गुणस्थानों और मार्गणाओं के सह-सम्बन्ध को स्पष्ट करते हैं। ज्ञातव्य है कि आचार्य कुन्दकुन्द ने अपने ग्रन्थ नियमसार में जीवस्थान, मार्गणास्थान और गुणस्थान तीनों को स्वतन्त्र सिद्धान्तों के रूप में प्रतिस्थापित किया है। ऐसा लगता है कि आचार्य कुन्दकुन्द के समय में ये तीनों अवधारणायें न केवल विकसित हो चुकी थीं, अपितु इनके पारस्परिक सम्बन्ध भी सुस्पष्ट किये जा चुके थे। यदि हम इस सन्दर्भ में जीवसमास की स्थिति का विचार करे तो हमें स्पष्ट लगता है कि जीवसमास के रचनाकाल तक ये अवधारणाएँ अस्तित्व में तो आ चुकी थीं, किन्तु इनका नामकरण संस्कार नहीं हुआ था। जीवसमास की गाथा छह में चौदह मार्गणाओं के नामों का निर्देश है, किन्तु

यह निर्देश नहीं है कि इन्हें मार्गणा कहा जाता है। इसी प्रकार गाथा आठ और नौ में चौदह गुणस्थानों के नामों का निर्देश है, किन्तु वहाँ इन्हें गुणस्थान न कहकर जीवसमास कहा गया है। उसी काल के अन्य दो ग्रन्थ समवायांग और षट्खण्डागम भी गुणस्थानों के लिए गुणस्थान शब्द का प्रयोग न कर क्रमशः जीवस्थान और जीवसमास शब्द का प्रयोग करते है। आचार्य कुन्दकुन्द ही प्रथम व्यक्ति है जो इन तीनों अवधारणाओं को स्पष्टतया अलग-अलग करते है। इसी आधार पर प्रो० ढाकी आदि कुछ विद्वानों की यह मान्यता है कि कुन्दकुन्द का काल छठी शताब्दी के पश्चात् ही मानना होगा। जब ये तीनों अवधारणाएँ एक-दूसरे से पृथक्-पृथक् स्थापित हो चुकी थीं और इनमें से प्रत्येक के एक-दूसरे से पारस्परिक सम्बन्ध को भी सुनिश्चित रूप से निर्धारित कर दिया गया था।

प्रस्तुत कृति में चौदह गुणस्थानों के नाम निर्देश के पश्चात् जीव के प्रकारों की चर्चा हुई है उसमें सर्वप्रथम यह बताया गया है कि आयोगी केवली दो प्रकार के होते हैं— सभव और अभव। अभव को ही सिद्ध कहा गया है। पुनः सांसारिक जीवों में उनके चार प्रकारों की चर्चा हुई है— (१) नारक, (२) तिर्यञ्च, (३) मनुष्य और (४) देवता।

इसके पश्चात् प्रस्तुत कृति में नारकों के सात भेदों और देवों के भवनवासी व्यन्तर, ज्योतिष और वैमानिक ये चार भेद किये गये है। इसके पश्चात् इनके उपभेदों की भी चर्चा हुई है। गुणस्थान सिद्धान्त के सन्दर्भ में उपरोक्त चारों गतियों की चर्चा करते हुए यह बताया गया है कि देव और नारक योनियों में प्रथम चार गुणस्थान पाये जाते हैं। तिर्यञ्चगति में प्रथम पाँच गुणस्थान पाये जाते हैं, जबकि मनुष्य गति में चौदह ही गुणस्थान पाये जाते हैं। ज्ञातव्य है कि प्रस्तुत प्रसंग में इनके लिए गुणस्थान शब्द का प्रयोग न करते हुए जीवस्थान शब्द का ही प्रयोग किया गया है। इसके पश्चात् पर्याप्त और अपर्याप्त की चर्चा में यह बताया गया है कि अपर्याप्त में मिथ्यादृष्टि गुणस्थान होता है। पर्याप्त में उनकी गति के अनुसार गुणस्थान पाये जाते हैं। इसके पश्चात् इन्द्रियों की दृष्टि से चर्चा की गई है। इसमें एकेन्द्रिय से लेकर पञ्चेन्द्रिय तक के जीवों की चर्चा है। इसमें चतुरिन्द्रिय तक केवल मिथ्यात्व गुणस्थान होता है, जबकि पञ्चेन्द्रिय में चौदह गुणस्थान पाए जाते हैं।

इसके पश्चात् प्रस्तुत कृति में इन्द्रिय-मार्गणा की चर्चा करते हुए एकेन्द्रिय से लेकर पञ्चेन्द्रिय तक के जीवों के भेद-प्रभेदों की विस्तार से चर्चा की गई हैं। इसमें यह बताया गया है कि एकेन्द्रिय जीव, बादर (स्थूल) और सूक्ष्म ऐसे दो प्रकार के होते हैं। पुनः इन दोनों ही प्रकारों के पर्याप्त और अपर्याप्त ऐसे

दो-दो उपभेद होते है। द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीवों के भी पर्याप्त और अपर्याप्त ऐसे दो भेद होते हैं। पञ्चेन्द्रियों के पर्याप्त, अपर्याप्त तथा संज्ञी और असंज्ञी ऐसे उपभेद होते हैं। इनमें पर्याप्त संज्ञी पञ्चेन्द्रिय में चौदह गुणस्थान होते हैं, शेष सभी जीवों में मात्र मिथ्यादृष्टि गुणस्थान होता है। ज्ञातव्य है कि इसी सन्दर्भ में जीवसमास में आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन— ये छ: पर्याप्तियाँ बताई गयी है और यह बताया गया है कि एकेन्द्रिय जीवों में चार, विकलेन्द्रिय में पाँच और संज्ञी पञ्चेन्द्रिय में छ: पर्याप्तियाँ होती है।

काय-मार्गणा की चर्चा करते हुए इसमें षट्जीवनिकायों और उनके भेद-प्रभेदों की विस्तार से चर्चा की गई है। षट्जीवनिकायों के भेद-प्रभेदों की यह चर्चा मुख्यत: उत्तराध्ययनसूत्र के छत्तीसवें अध्ययन के समान ही है। यद्यपि यह चर्चा उसकी अपेक्षा संक्षिप्त हैं, क्योंकि इसमें त्रस-जीवों की चर्चा अधिक विस्तार से नहीं की गई है। इसी काय-मार्गणा की चर्चा के अन्तर्गत ग्रन्थकार ने जीवों के विभिन्न कुलों (प्रजातियों) एवं योनियों (जन्म ग्रहण करने के स्थान) की भी चर्चा की गई है। योनियों की चर्चा के प्रसंग में संवृत्त, विवृत्त, संवृत्त-विवृत्त तथा सजीव, निर्जीव और सजीव-निर्जीव एवं शीत, उष्ण तथा शीतोष्ण योनियों की चर्चा है। इसी क्रम में आगे छह प्रकार के संघयण तथा छह प्रकार के संस्थानों की भी चर्चा की है। इसी क्रम में इस सबकी भी विस्तार से चर्चा की गई है कि किन-किन जीवों की कितनी कुलकोटियाँ होती हैं। वे किस प्रकार की योनि में जन्म ग्रहण करते हैं। उनका अस्थियों का ढाँचा अर्थात् संघहन किस प्रकार का होता है तथा उनकी शारीरिक संरचना कैसी होती है? इसी क्रम में आगे पाँच प्रकार के शरीरों की भी चर्चा की गई है और यह बताया गया है कि किस प्रकार के जीवों को कौन-कौन से शरीर प्राप्त होते हैं।

योग-मार्गणा के अन्तर्गत मन, वचन और काययोग की चर्चा की गई है और यह बताया गया है कि किस प्रकार के योग में कौन-सा गुणस्थान पाया जाता है।

योग-मार्गणा के पश्चात् वेद-मार्गणा की चर्चा की गई है। जैन परम्परा में वेद का तात्पर्य स्त्री, पुरुष अथवा नपुंसक की काम वासना से है।

वेदमार्गणा की चर्चा के पश्चात् कषाय-मार्गणा की चर्चा है। इसमें क्रोध, मान, माया और लोभ— इन चार कषायों में प्रत्येक के अनन्तानुबन्धी अप्रत्याख्यानी-प्रत्याख्यानी एवं संज्वलन ऐसे चार-चार विभाग किये गये हैं और यह बताया गया है कि किस गुणस्थान में कौन से प्रकार के कषाय पाये

जाते हैं।

अग्रिम ज्ञान-मार्गणा के अन्तर्गत पाँच प्रकार के ज्ञानों की चर्चा है। इसमें मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और मनःपर्यवज्ञान के भेद-प्रभेद भी बताये गये हैं तथा यह बताया गया है कि केवलज्ञान का कोई भेद नहीं होता है। आगे इसी प्रसंग में कौन से ज्ञान किस गुणस्थान में पाये जाते हैं, इसका भी संक्षिप्त विवेचन उपलब्ध होता है।

संयम-मार्गणा के अन्तर्गत पाँच प्रकार के संयमों की चर्चा की गई है और यह बताया गया है कि किस गुणस्थान में कौन-सा संयम पाया जाता है। इसी चर्चा के प्रसंग में पुलाक, बकुश, कुशील, निर्ग्रन्थ और स्नातक ऐसे पाँच प्रकार के श्रमणों का भी उल्लेख किया गया है।

दर्शन-मार्गणा के अन्तर्गत चार प्रकार के दर्शनों का उल्लेख करते हुए यह बताया है कि किस गुणस्थान में कितने दर्शन होते हैं।

लेश्या-मार्गणा के अन्तर्गत छः लेश्याओं का विस्तृत विवेचन उपलब्ध होता है। इसी क्रम में लेश्या और गुणस्थान के सह-सम्बन्ध को भी निरूपित किया गया है। इसमें यह भी बताया गया है कि नारकीय जीवों और देवताओं में किस प्रकार लेश्या पायी जाती है, किन्तु यहाँ हमें ध्यान रखना चाहिए कि नारकीय जीवों और देवों के सम्बन्ध में जो लेश्या की कल्पना है, वह द्रव्य-लेश्या को लेकर है, उनमें भाव-लेश्या तो छहों ही सम्भव हो सकती हैं। वस्तुतः यहाँ द्रव्य-लेश्या स्वभावगत विशेषता की सूचक है।

भव्यत्व मार्गणा के अन्तर्गत भव्य और अभव्य ऐसे दो प्रकार के जीवों का निर्देश है। जैन दर्शन में भव्य से तात्पर्य उन आत्माओं से है जो मोक्ष को प्राप्त करने में समर्थ हैं। इसके विपरीत अभव्य जीवों में मोक्ष को प्राप्त करने की क्षमता का अभाव होता है। गुणस्थानों की अपेक्षा से अभव्य जीवों में मात्र मिथ्यादृष्टि गुणस्थान होता है जबकि भव्य जीवों में चौदह ही गुणस्थान सम्भव हैं।

भव्यत्व-मार्गणा के पश्चात् प्रस्तुत कृति में सम्यक्त्व-मार्गणा का निर्देश किया गया है। सम्यक्त्व-मार्गणा के अन्तर्गत औपशमिक, वेदक, क्षायिक और क्षायोपशमिक ऐसे चार प्रकार के सम्यक्त्व की चर्चा है। इसमें यह भी बताया गया है कि किस-किस गुणस्थान में किस प्रकार का सम्यक्त्व पाया जाता है।

संज्ञी-मार्गणा के अन्तर्गत संज्ञी और असंज्ञी— ऐसे दो प्रकार के जीवों का निर्देश किया गया है जिनमें हेय, ज्ञेय और उपादेय का विवेक करने की

सामर्थ्य होती है, उसे संज्ञी कहा जाता है। गुणस्थानों की अपेक्षा से यहाँ यह बताया है कि असंज्ञी जीवों में मात्र मिथ्यात्व गुणस्थान होता है, जबकि संज्ञी जीवों में सभी गुणस्थान सम्भव होते हैं।

आहार-मार्गणा के अन्तर्गत जीवों के दो भेद किये गये हैं— (१) आहारक, (२) अनाहारक। इसमें यह भी बताया गया है कि पुनर्जन्म ग्रहण करने हेतु विग्रहगति से गमन करने वाले जीव, केवली-समुद्घात करते समय केवली तथा अयोगी केवली और सिद्ध ये अनाहारक होते हैं। शेष सभी अहारक होते हैं। इस प्रकार जीवसमास के इस प्रथम सत्पदप्ररूपणा-द्वार में चौदह मार्गणाओं का चौदह गुणस्थानों से पारस्परिक सम्बन्ध स्पष्ट किया गया है। यद्यपि गम्भीरता से देखने पर यह लगता है कि जीवसमास उस प्रारम्भिक स्थिति का ग्रन्थ है, जब मार्गणाओं और गुणस्थानों के सह-सम्बन्ध निर्धारित किये जा रहे थे।

जीवसमास का दूसरा द्वार **परिमाणद्वार** है इस द्वार में सर्वप्रथम परिमाण के द्रव्य-परिमाण, क्षेत्र-परिमाण, काल-परिमाण और भाव-परिमाण ये चार विभाग किये गये हैं। पुनः द्रव्य-परिमाण के अन्तर्गत मान, उन्मान, अवमान, गनिम और प्रतिमान— ऐसे पाँच विभाग किये गये है जो विभिन्न प्रकार के द्रव्यों (वस्तुओं) के तौलमाप से सम्बन्धित है, क्षेत्र-परिमाण के अन्तर्गत अंगुल, वितस्ति, कुक्षी, धनुष, गाऊ, श्रेणी आदि क्षेत्र को मापने के पैमानों की चर्चा की है। इसी क्रम में अंगुल की चर्चा करते हुए उसके उत्सेधांगुल, प्रमाणांगुल और आत्मांगुल ऐसे तीन भेद किए हैं। पुनः इनके भी प्रत्येक के सूच्यंगुल, प्रतरांगुल, धनांगुल ऐसे तीन-तीन भेद किये गये हैं। सूक्ष्म क्षेत्रमाप के अन्तर्गत परमाणु, उर्ध्वरेणू, त्रसरेणू, रथरेणू, बालाग्र, लीख, जूँ और यव की चर्चा की गई है और बताया गया है कि आठ यवों से एक अंगुल बनता है। पुनः छः अंगुल से एक पाद, दो पाद से एक वितस्ति तथा दो वितस्ति का एक हाथ होता है, ४ हाथों का एक धनुष होता है, २००० हाथ या ५०० धनुष का एक गाऊ (कोश) होता है। पुनः ४ गाऊ का एक योजन होता है।

काल-परिमाण की चर्चा करते हुए यह बताया गया है कि काल की सबसे सूक्ष्म इकाई समय है। असंख्य समय की एक आवलिका होती है। संख्यात आवलिका का एक श्वासोच्छ्वास अर्थात् प्राण होता है। सात प्राणों का एक स्तोक होता है। सात स्तोकों का एक लव होता है। साढ़े अड़तीस लव की एक नालिका होती है। दो नालिकाओं का एक मुहूर्त होता है। तीस मूहूर्त का एक अहोरात्र (दिवस) होता है। पन्द्रह अहोरात्र का एक पक्ष होता है। दो पक्ष का एक मास होता है। दो मास की एक ऋतु होती है। तीन ऋतुओं का एक अयन होता है। दो अयन का एक वर्ष होता है। चौरासी लाख वर्षों का एक पूर्वाङ्ग होता

है। चौरासी लाख वर्षों को चौरासी लाख-लाख वर्षों से गुणित करने पर एक पूर्व होता है। पूर्व के आगे नयूतांग, नयूत नलिनांग, नलिन आदि की चर्चा करते हुए अन्त में शीर्ष प्रहेलिका का उल्लेख किया गया है। इसके आगे का काल संख्या के द्वारा बताना सम्भव नहीं होने से उसे पल्योपम, सागरोपम आदि उपमानों से स्पष्ट किया गया है। जीवसमास में पल्योपम, सागरोपम के विविध प्रकारों और उनके उपमाओं के द्वारा मापने की विस्तृत चर्चा की गई है। इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन दर्शन में काल के पैमानों की अतिविस्तृत और गम्भीर चर्चा उपलब्ध होती है।

द्रव्य-परिमाण नामक इस द्वार के अन्त में भाव-परिमाण की चर्चा है। इसमें संख्यात, असंख्यात और अनन्त के भेद-प्रभेदों का अत्यन्त ही सूक्ष्म विवेचन किया गया है। भाव-परिमाण की इस चर्चा के अन्त में जीवसमास में प्रत्यक्ष और परोक्ष ऐसे दो प्रमाणों की चर्चा हुई है। इसमें इन्द्रिय प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और आगम ऐसे चार प्रमाणों को दो भागों में विभक्त किया गया है। इन्द्रिय प्रत्यक्ष, अनुमान और उपमान को मतिज्ञान के अन्तर्गत तथा आगम को श्रुतज्ञान के अन्तर्गत वर्गीकृत किया गया है।

आगे नय प्रमाण की चर्चा करते हुए मूल ग्रन्थ में मात्र नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र और शब्द ऐसे पाँच नयों का उल्लेख हुआ है।

इसी क्रम में इस द्रव्य-परिमाण-द्वार के अन्तर्गत विभिन्न गुणस्थानों में और विभिन्न मार्गणाओं में जीवों की संख्या का परिमाण बतलाया गया है। जीवसमास में प्रथम **सत्प्ररूपणाद्वार** की चर्चा लगभग ८५ गाथाओं में की गई है, वही दूसरे **द्रव्य-परिमाण-द्वार** की चर्चा भी लगभग ८२ गाथाओं में पूर्ण होती है। उसके बाद क्षेत्र-द्वार आदि शेष छ द्वारों की चर्चा अत्यन्त संक्षिप्त रूप में की गई है।

तीसरे **क्षेत्र-द्वार** में सर्वप्रथम आकाश को क्षेत्र कहा गया है और शेष जीव, पुद्गल, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और काल को-क्षेत्रीय अर्थात् उसमें रहने वाला बताया गया है। इस द्वार के अन्तर्गत सर्वप्रथम चारों गति के जीवों के देहमान की चर्चा की गई है। प्रस्तुत कृति में देहमान की यह चर्चा पर्याप्त विस्तार के साथ उपलब्ध होती है। यह बताया गया है कि किस गुणस्थानवर्ती जीव लोक के कितने भाग में होते हैं। मिथ्यादृष्टि जीव सम्पूर्ण लोक में पाये जाते हैं, शेष गुणस्थानवर्ती जीव लोक के असंख्यातवें भाग में होते हैं, यद्यपि केवली समुद्घात करते समय सम्पूर्ण लोक में व्याप्त होते हैं। इस चर्चा के पश्चात् इसमें यह बताया गया है कि सूक्ष्म एकेन्द्रिय और अपर्याप्त बादर जीव सर्वलोक में होते हैं, शेष जीवलोक के भाग विशेष में होते हैं। यहाँ वायुकायिक जीवों को स्व-स्थान की अपेक्षा से तो लोक के भाग विशेष में ही माना गया है, किन्तु उपपात अथवा

समुद्घात की अपेक्षा से वे भी सर्वलोक में होते हैं। जीव स्वस्थान, समुद्घात तथा उपपात की अपेक्षा से जिस स्थान विशेष में रहता है, वह क्षेत्र कहलाता है, किन्तु भूतकाल में जिस क्षेत्र में वह रहा था उसे स्पर्शना कहते हैं। स्पर्शना की चर्चा अग्रिमद्वार में की गई है। क्षेत्र-द्वार के अन्त में यह बताया गया है कि आकाश को छोड़कर शेष पांचों द्रव्य लोक में होते हैं, जबकि आकाश लोक और अलोक दोनों में होता है।

चतुर्थ **स्पर्शनाद्वार** के अन्तर्गत सर्वप्रथम लोक के स्वरूप एवं आकार का विवरण दिया गया है। इसी क्रम में उर्ध्वलोक, अधोलोक और तिर्यक्लोक का विवेचन किया गया है। तिर्यक्लोक के अन्तर्गत जम्बूद्वीप और मेरुपर्वत का स्वरूप स्पष्ट किया गया है और उसके पश्चात् द्विगुण-द्विगुण विस्तार वाले लवण समुद्र, धातकीयखण्ड, कालोदधि समुद्र, पुष्करद्वीप और उसके मध्यवर्ती मानुषोत्तर पर्वत की चर्चा है। इसी चर्चा के अन्तर्गत यह भी बताया गया है कि मनुष्य मानुषोत्तर पर्वत तक ही निवास करते हैं, यद्यपि इसके आगे भी द्विगुणित-द्विगुणित विस्तार वाले असंख्य द्वीप-समुद्र हैं। सबके अन्त में स्वयम्भूरमण समुद्र है। इस द्वार के अन्त में निम्न सात समुद्घातों की चर्चा की गई है—

(१) वेदनासमुद्घात, (२) कषाय समुद्घात, (३) मारणान्तिक समुद्घात, (४) वैक्रिय समुद्घात, (५) तेजस् समुदघ्रात, (६) आहारक समुद्घात और (७) केवली समुद्घात। समद्घात का तात्पर्य आत्म-प्रदेशों को शरीर से बाहर निकालकर लोक में प्रसरित कर विभिन्न कर्मों की निर्जरा करना है। इसी क्रम में आगे यह बताया गया है कि किन जीवों में कितने समुद्घात सम्भव होते हैं। इसके पश्चात् इस स्पर्शन नामक द्वार में विभिन्न गुणस्थानवर्ती जीव लोक के कितने भाग की स्पर्शना करते हैं यह बताया गया है। अन्त में चारों गति के जीव लोक के कितने-कितने भाग का स्पर्श करते हैं, इसकी चर्चा की गई है।

पाँचवें **काल-द्वार** के अन्तर्गत तीन प्रकार के कालों की चर्चा की गई है— (१) भवायु काल, (२) कायस्थिति काल, (३) गुणविभाग काल और इसमें भवायु काल के अन्तर्गत चारों गतियों के जीवों की अधिकतम और न्यूनतम आयु कितनी होती है, इसकी विस्तार से चर्चा की गई है। यह चर्चा दो प्रकार से की गई है। जीव विशेष की अपेक्षा से और उन-उन गति के जीवों के सर्वजीवों की अपेक्षा से यह बताया गया है कि अपर्याप्त मनुष्यों को छोड़कर नारक, तिर्यञ्च, देवता और पर्याप्त मनुष्य सभी कालों में होते हैं। इस चर्चा के पश्चात् प्रस्तुत द्वार में कायस्थिति की चर्चा की गयी है। किसी जीव विशेष का पुनः-पुनः

निरन्तर उसी काय में जन्म लेना कायस्थिति है। इस अपेक्षा से देव और नारक पुन: उसी काय में जन्म नहीं लेते है। अत: उनकी कायस्थिति एकभवपर्यन्त ही होती है। पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च को छोड़कर शेष तिर्यञ्च जीवों की कायस्थिति भव की अपेक्षा से अनन्तभव और काल की अपेक्षा से अनन्तकाल तक मानी गई है। जहाँ तक मनुष्य और पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च का प्रश्न है, उनकी स्थिति सात-आठ भव तक होती है। काल की अपेक्षा से यह कायस्थिति तीन पल्योपम और नौ करोड़ पूर्व वर्ष की हो सकती है।

कायस्थिति की चर्चा के बाद काल-द्वार में गुणविभाग काल की चर्चा है। इसमें विभिन्न गुणस्थानों के जघन्य और उत्कृष्ट काल की सीमा बतायी गयी है। इसी क्रम में सम्यक्त्व, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, लेश्या एवं मति आदि पांच ज्ञानों की काल मर्यादा की चर्चा भी प्रस्तुत द्वार में मिलती है।

इसी क्रम में चक्षुदर्शन और अचक्षुदर्शन के काल मर्यादा की चर्चा करते हुए चक्षुदर्शन का काल दो हजार सागरोपम और अचक्षुदर्शन का काल अनादि-अनन्त, अनादि-सान्त और सादि-सान्त ऐसा तीन प्रकार का बताया गया है। यद्यपि आगम में उसके प्रथम दो प्रकारों का ही निर्देश मिलता है। इसके पश्चात् इस द्वार में भव्यत्व-अभव्यत्व आदि की अपेक्षा से भी उत्कृष्ट काल की चर्चा हुई है। द्वार के अन्त में विभिन्न मार्गणाओं और गुणस्थानों की अपेक्षा से उत्कृष्ट-जघन्य काल की चर्चा भी विस्तारपूर्वक की गई है। अन्त में अजीव द्रव्य के काल की चर्चा करते हुए धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय को अनादि-अनन्त बताया है। काल सामान्य दृष्टि से तो अनादि-अनन्त है, किन्तु विशेष रूप से उसे भूत, वर्तमान और भविष्य— ऐसे तीन विभागों में बाँटा जाता है। पुद्गल द्रव्य में परमाणु एवं स्कन्धों का जघन्यकाल एक समय और उत्कृष्ट काल असंख्यात अवसर्पिणी-उत्सर्पिणी पर्यन्त बताया है।

छठें **अन्तरद्वार** जीव जिस गति अथवा पर्याय को छोड़कर अन्य किसी गति या पर्याय को प्राप्त हुआ हो, वह जब तक पुन: उसी गति या पर्याय को प्राप्त न कर सके, तब तक का काल अन्तरकाल कहा जाता है। प्रस्तुत द्वार के अन्तर्गत सर्वप्रथम चार गतियों के जीवों में कौन, कहाँ, किस गति में जन्म ले सकता है, इसकी चर्चा की गई। उसके पश्चात् एकेन्द्रिय, त्रसकाय एवं सिद्धों के सामान्य अपेक्षा से निरन्तर उत्पत्ति और अन्तराल के काल की चर्चा की गई है। तत्पश्चात् सिद्धोंकी निरन्तरता और अन्तराल की चर्चा करते हुए चारों गतियों, पांचों इन्द्रियों, षट् जीवनिकायों आदि की अपेक्षा से भी अन्तरकाल की चर्चा की गई है।

सातवें **भाव-द्वार** के अन्तर्गत सर्वप्रथम औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक, पारिणामिक एवं सन्निपातिक ऐसे छः भागों की चर्चा की गई है। उसके पश्चात् आठ कर्मों की अपेक्षा से विभिन्न भावों की चर्चा की गई है। इसमें यह बताया गया है कि मोहनीय-कर्म में चार भाव होते हैं, शेष तीन घाती कर्मों में औदयिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक ऐसे तीन भाव होते हैं। शेष अघाती कर्मों में मात्र औदयिक भाव होते हैं। पारिणामिक भाव तो जीव का स्वभाव है। अत: वह सभी अवस्थाओं में पाया जाता है। अजीव द्रव्यों में धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय और काल में पारिणामिक भाव है, किन्तु यहाँ पारिणामिक भाव का तात्पर्य परिणमन ही समझना चाहिए, क्योंकि भाव तो चेतनागत अवस्था है। पुद्गल में पारिणामिक और औदयिक दोनों भाव होते हैं, क्योंकि पुद्गल कर्मवर्गणा के रूप में उदय में भी आते हैं।

आठवें **अल्पबहुत्व-द्वार** में सर्वप्रथम चारों गतियों एवं सिद्धों की अपेक्षा से अल्पबहुत्व की चर्चा हुई है, उसमें बताया गया है कि सबसे अल्प मनुष्य है, मनुष्यों से असंख्यात गुणा अधिक देवता हैं, देवों से असंख्यात गुणा अधिक सिद्ध या मुक्त आत्मा है और सिद्धों से अनन्त गुणा अधिक तिर्यंच हैं। स्त्री-पुरुष के अल्पबहुत्व को बताते हुए कहा गया है कि मानव स्त्री सबसे कम है, उनकी अपेक्षा पुरुष अधिक हैं पुरुषों से अधिक नारकीय जीव हैं, उनसे असंख्यात गुणा अधिक पंचेन्द्रिय तिरियञ्चिणि हैं, उनसे असंख्यात गुणा अधिक देवियाँ हैं। इसी क्रम में आगे विभिन्न नरकों की पारस्परिक अपेक्षा से और देव गति में विभिन्न देवों की अपेक्षा से भी अल्पबहुत्व का विचार हुआ है। इसी क्रम में आगे विभिन्न कायों की अपेक्षा से अल्पबहुत्व का विचार किया गया है। अन्त में विभिन्न गुणस्थानों की अपेक्षा से भी अल्पबहुत्व का विचार किया गया है। इस प्रकार इस द्वार में विभिन्न मार्गणाओं की अपेक्षा से अल्पबहुत्व का विचार हुआ है। अन्त में अजीव द्रव्यों और उनके प्रदेशों के अल्पबहुत्व का विचार करते हुए प्रस्तुत कृति समाप्त होती है, अन्तिम दो गाथाओं में जीवसमास का आधार दृष्टिवाद को बतलाते हुए जीवसमास के अध्ययन के फल को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि जो इसका अध्ययन करता है उसकी मति विपुल होती है तथा वह दृष्टिवाद के वास्तविक अर्थ का ज्ञाता हो जाता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जीवसमास का वर्ण्य-विषय विविध आयामों वाला है। उसमें जैन, खगोल, भूगोल, सृष्टि-विज्ञान के साथ-साथ उस युग में प्रचलित विविध प्रकार के तौल-माप, जीवों की विभिन्न प्रजातियाँ आदि का विवेचन उपलब्ध होता है। गुणस्थान सिद्धान्त को आधार बनाकर आठ अनुयोगद्वारों के माध्यम से उसकी व्याख्या करने वाला श्वेताम्बर परम्परा में यह

प्रथम ग्रन्थ है। इसकी प्राचीनता और महत्ता को नकारा नहीं जा सकता। इसपर सर्वप्रथम मलधार गच्छीय श्री हेमचन्द्रसूरि की वृत्ति है। यह मूलग्रन्थ सर्वप्रथम ऋषभदेव केशरीमल संस्थान, रतलाम के द्वारा ई० सन् १९२८ में प्रकाशित हुआ था। इसके भी पूर्व हेमचन्द्रसूरि की वृत्ति के साथ यह ग्रन्थ आगमोदय समिति बम्बई द्वारा ई० सन् १९२७ में मुद्रित किया गया था। जिनरत्नकोष से हमें यह भी सूचना मिलती है कि इसपर मलधारगच्छीय हेमचन्द्रसूरि की वृत्ति के अतिरिक्त शीलांकाचार्य की एक टीका भी उपलब्ध होती है, जो अभी तक अप्रकाशित है। यद्यपि इसकी प्रतियाँ बड़ौदा आदि विभिन्न ज्ञान भण्डारों में उपलब्ध होती हैं। इसी प्रकार इसकी एक अन्य टीका बृहद्वृत्ति के नाम से जानी जाती है जो मलधारगच्छीय हेमचन्द्रसूरि के शिष्य अभयदेवसूरि के द्वारा विक्रम संवत् ११६४ तदनुसार ई० सन् ११०७ में लिखी गई थी।

इस प्रकार यद्यपि मूलग्रन्थ और उसकी संस्कृत टीका उपलब्ध थी, किन्तु प्राकृत और संस्कृत से अनभिज्ञ व्यक्तियों के लिए इसके हार्द को समझ पाना कठिन था। इसका प्रथम गुजराती अनुवाद, जो मलधारगच्छीय हेमचन्द्रसूरि की टीका पर आधारित है, मुनि श्री अमितयश विजय की महाराज ने किया, जो जिनशासन आराधना ट्रस्ट, बम्बई के द्वारा ई० सन् १९८५ में प्रकाशित हुआ। फिर भी हिन्दी भाषा-भाषी जनता के लिए इस महान् ग्रन्थ का उपयोग कर पाना अनुवाद के अभाव में कठिन ही था। ई० सन् १९९५ में खरतरगच्छीय महत्तरा अध्यात्मयोगिनी पूज्याश्री विचक्षणश्री जी म०सा० की सुशिष्या एवं साध्वीवर्या मरुधरज्योति पूज्या मणिप्रभाश्री जी की नेश्रायवर्तिनी **साध्वी श्री विद्युतप्रभाश्रीजी,** पार्श्वनाथ विद्यापीठ में अपनी गुरु भगिनियों के साथ अध्ययनार्थ पधारीं, उनसे मैंने इस ग्रन्थ के अनुवाद के लिए निवेदन किया, जिसे उन्होंने न केवल स्वीकार किया अपितु कठिन परिश्रम करके अल्पावधि में ही इसका अनुवाद सम्पन्न किया। उसके सम्पादन और संशोधन में मेरी व्यवस्तता एवं स्वास्थ्य सम्बन्धी कारणों से अपेक्षा से कुछ अधिक ही समय लगा, किन्तु आज यह ग्रन्थ मुद्रित होकर लोकार्पित होने जा रहा है, यह अतिप्रसन्नता और सन्तोष का विषय है। सम्पादन एवं भूमिका लेखन में हुए विलम्ब के लिए मैं साध्वीश्री जी एवं पाठकों से क्षमाप्रार्थी हूँ।

जैनविद्या के अध्ययन की तकनीक

जैन विद्या एक व्यापक शब्द है इसमें न केवल जैन धर्म और दर्शन का समावेश होता है, अपितु जैन इतिहास, कला, पुरातत्त्व, साहित्य, समाज और संस्कृति सभी कुछ समाहित है। आज जैन विद्या के अध्ययन की आवश्यकता तथा उसके मूल्य और महत्त्व को समझने के लिए हमें इन सभी क्षेत्रों में जैनों के अवदान का आकलन करना होगा। यह सत्य है कि जैन समाज भारतीय समाज और संस्कृति का एक छोटा सा अंग है। आज जैनों की जनसंख्या भारत की जनसंख्या के एक प्रतिशत से अधिक नहीं है, किन्तु इनका अवदान विपुल है। यदि हम जनसंख्या के अनुपात में जैनों के भारतीय संस्कृति में अवदान का मूल्यांकन करते हैं तो हम आश्चर्यचकित रह जाते हैं। आज भारतीय संस्कृति के प्रत्येक क्षेत्र में चाहे वह पुरा सम्पदा का हो या साहित्य का हो, चाहे शिक्षा और समाज सेवा का हो, उनका अवदान तीस प्रतिशत से अधिक ही है। एक प्रतिशत जनसंख्या का अवदान यदि तीस प्रतिशत से अधिक हो तो यह उस समाज के लिए कम गौरव की बात नहीं है।

भारतीय संस्कृति के इतिहास में आदिकाल से ही हम निवृत्तिमार्गी श्रमण-परम्परा और प्रवृत्तिमार्गी वैदिक-परम्परा का अस्तित्व साथ-साथ ही देखते हैं। मात्र यही नहीं भारतीय इतिहास की इन दोनों धाराओं ने एक दूसरे को प्रभावित भी किया है। आज हम जिस बृहद हिन्दू समाज और संस्कृति को देखते हैं वह केवल वैदिक धारा की परिणति नहीं है अपितु वैदिक और श्रमण दोनों धाराओं का समन्वित रूप है। भारतीय वाङ्मय में ऋग्वेद प्राचीनतम है, उसमें भारतीय संस्कृति की इन दोनों धाराओं का आर्हत् और बार्हत् के रूप में उल्लेख उपलब्ध है।ऋग्वेद न केवल व्रात्यों, श्रमणों एवं आर्हतों की उपस्थिति का संकेत करता है, अपितु उसमें ऋषभ, अजित, अरिष्टनेमि, जिन्हें जैन-परम्परा अपने तीर्थंकर के रूप में मान्य करती है, के उल्लेख भी हैं। ध्यान और योग की इस श्रमण धारा के अस्तित्व के संकेत तो भारतीय इतिहास में वैदिकों के भी पूर्व हैं। मोहनजोदड़ो और हड़प्पा के उत्खनन से जिस प्राचीन भारतीय संस्कृति की जानकारी हमें उपलब्ध होती है उससे भी यही सिद्ध होता है कि वैदिक संस्कृति के आगमन से पूर्व भी भारत में एक उच्च आध्यात्मिक संस्कृति अपना अस्तित्व रखती थी। उस उत्खनन में ध्यानस्थ योगियों की सीलें आदि मिलना यही सिद्ध करता है कि

वह संस्कृति तप, योग और ध्यान प्रधान उस व्रात्य संस्कृति से भिन्न नहीं थी जिसका उल्लेख ऋग्वेद में है। यह संस्कृति न केवल जैन और बौद्ध श्रमण परम्पराओं की अपितु सांख्य-योग और शैवधारा की भी पूर्वज है। भारतीय संस्कृति की औपनिषदिक धारा में वैदिक कर्मकाण्डों के प्रति जिस उपेक्षावृत्ति का विकास हुआ और तप, त्याग, ध्यान, संन्यास, समाधि और मुक्ति की अवधारणाएं अस्तित्व में आयीं, वे सभी इसी निवृत्तिमार्गी श्रमण धारा के प्रभाव का परिणाम है। वस्तुत: उपनिषद् श्रमण और वैदिक धारा के समन्वय या संगम के परिचायक हैं। यह सामान्य रूप से श्रमण परम्परा और विशेष रूप से निर्ग्रंथ परम्परा की आध्यात्मिक दृष्टि का ही परिणाम था कि महाभारत आदि में वैदिक कर्मकाण्डों की नवीन आध्यात्मिक दृष्टि से सम्पन्न परिभाषाएं प्रस्तुत की गईं, जहाँ यज्ञ का अर्थ पशुबलि न होकर स्वहितों की बलि या समाज सेवा हो गया। उत्तराध्ययन के समान गीता और महाभारत में यज्ञों और कर्मकाण्डों की जो आध्यात्मिक परिभाषाएं दी गई हैं, वे उसी श्रमण या जैन धारा की ही प्रभाव हैं। हमें महावीर और बुद्ध के पूर्व भी औपनिषदिक ऋषियों के ये वचन कि 'ये यज्ञ रूपी नौकाएं अदृढ़ हैं, ये हमारे आत्मविकास मे सक्षम नहीं है,' शून्य में से उद्भूत नहीं हुए हैं। उसके पीछे इसी निवृतिमार्गी श्रमण परम्परा का पृष्ठबल है। इसी प्रकार उपनिषदों में जनक का यह कथन कि इसके पूर्व जिस अध्यात्म विद्या पर क्षत्रियों का अधिकार था, आज प्रथम बार ब्राह्मणों को दी जा रही है— इस बात का सूचक है कि क्षत्रिय अध्यात्म प्रधान संस्कृति के उपासक थे। बुद्ध और महावीर का क्षत्रिय कुल में उत्पन्न होकर आध्यात्मिक साधना हेतु अपने राजसी वैभव का त्याग कर देना इस तथ्य का स्पष्ट प्रमाण है कि उपनिषदों के पूर्व भी कोई अध्यात्मवादी संस्कृति अस्तित्व में थी जिससे प्रभावित होकर उन्होंने गृहत्याग किया था। श्रमणों का और विशेष रूप से जैनों का जो सबसे महत्त्वपूर्ण अवदान भारतीय समाज को है वह यह कि उन्होंने न केवल कर्मकाण्ड और पुरोहितवाद से भारतीय समाज को मुक्त किया अपितु जन्मना जातिवाद का प्रबल विरोध करके दलित वर्ग के उत्थान का मार्ग भी प्रशस्त किया। उन्होंने एक ओर भारतीय समाज को पुरोहित वर्ग के द्वारा किये जाने वाले कर्मकाण्डरूपी धार्मिक शोषण से मुक्त किया, वहीं दूसरी ओर एक ऐसे धर्म का प्रतिपादन किया जो जन-जन का धर्म था और कर्मकाण्डों की अपेक्षा नैतिक सद्गुणों पर अधिष्ठित था। सभी जाति और वर्ग के लिए उसके द्वार समान रूप से खुले हुए थे। उसमें चाण्डाल कुल में उत्पन्न हरिकेशीबल और ब्राह्मण कुल में उत्पन्न गणधर गौतम दोनों ही समान रूप से आदर के पात्र थे। वस्तुत: जैन धर्म ने वैदिक धारा की उन विकृतियों का जो कर्मकाण्ड, पुरोहितवाद, जातिवाद और निम्न वर्ग के धार्मिक शोषण के रूप में उभर रही थी, खुलकर विरोध किया, किन्तु उनका यह विरोध भारतीय संस्कृति के परिष्कार के लिए ही था। जैनों ने भारतीय संस्कृति में आ रही विकृतियों का परिशोधन कर उन्हें स्वस्थ बनाने में एक चिकित्सक का दायित्व निभाया है। अध्यात्म का जो स्वर औपनिषदिक ऋषियों ने मुखरित किया था, जैनों

ने उसी को यथार्थ के धरातल पर अवतरित किया है। उनका यह अवदान उस युग में तो प्रासंगिक था ही, किन्तु आज भी जब जातिवाद, वर्गवाद और धार्मिक अन्धविश्वासरूपी अजगर भारतीय संस्कृति को निगलने हेतु अपना मुंह फैलाये खड़े हैं, और भी अधिक प्रासंगिक है। आज विद्वानों से यह अपेक्षा है कि वे तुलनात्मक अध्ययन से इस तथ्य को स्पष्ट करें कि वैदिक और श्रमण धाराओं का पारस्परिक अवदान कितना है।

जहाँ प्रारम्भ में श्रमणधारा ने वैदिकों को प्रभावित किया और उनमें तप, त्याग और आध्यात्म का बीज वपित कर औपनिषदिक धारा का विकास किया, वही परवर्ती काल में उसी औपनिषदिक धारा से विकसित बृहद् हिन्दू परम्परा से प्रभावित भी हुए हैं। श्रमणों में विशेष रूप से जैन परम्परा में पूजा और उपासना में जिस कर्मकाण्ड का विकास हुआ वह उसपर बृहद् हिन्दू परम्परा का प्रभाव है। जैन देवमण्डल में यक्ष-यक्षी के रूप में अनेक हिन्दू देवी-देवता सम्मिलित किये गये। काली, महाकाली, गौरी, गन्धारी, ज्वालामालिनी, अम्बिका, चक्रेश्वरी आदि देवियाँ शासनरक्षिका के रूप में स्वीकार कर ली गईं। श्रुतदेवता के रूप में सरस्वती और सम्पत्ति प्रदाता के रूप में लक्ष्मी (श्रीदेवी) को जैनों ने आज से दो हजार वर्ष पूर्व ही गृहीत कर लिया था। आज भारत में जो सबसे प्राचीन सरस्वती की प्रतिमा है वह जैन सरस्वती है। लखनऊ संग्रहालय में यह लगभग दो सहस्राब्दि पूर्व की अभिलिखित सरस्वती प्रतिमा उपलब्ध है। जैनों में आज जो पूजा विधान उपलब्ध है वह हिन्दू परम्परा से आया है। उसके पूजा मन्त्र थोड़े से शाब्दिक हेर-फेर के साथ यथावत गृहीत हैं। तन्त्र के प्रभाव से जैन साधना पद्धति कितनी प्रभावित हुई है, यह जानना कम रुचिकर नहीं है। भौतिक उपलब्धि के लिए देवी उपासना और मारण, मोहन, उच्चाटन जैसे षट्कर्म जो अहिंसा प्रधान निवृत्तिमार्गी परम्परा के प्रतिकूल थे, वे सब तन्त्र की अन्य सहवर्ती परम्परा के प्रभाव से ही जैन धर्म में प्रविष्ट हुए हैं। यहाँ यह चर्चा इसलिए अपेक्षित है कि जैनधर्म और दर्शन के अध्ययन और शोध की सम्यक् दिशा तभी निर्धारित होगी, जब विभिन्न भारतीय परम्पराओं के आदान प्रदान को लोग समझेगें। क्योंकि कोई भी धर्म या संस्कृति शून्य में जन्म नहीं लेती है। जैन विद्या का अध्ययन तभी सार्थक होगा जब हम हिन्दू, बौद्ध और इतर परम्पराओं से उसके अन्तः सम्बन्धों को स्पष्ट करेंगे।

यह सत्य है कि प्रत्येक धर्म और दर्शन का स्वतन्त्र रूप से अध्ययन तो विपुल मात्रा में हुआ है, किन्तु इनके परस्परिक अन्तः सम्बन्धों को समझने के प्रयास कम ही हुए हैं। पुनः भारतीय धर्मों और दर्शनों के प्रसंग में तो इस प्रकार के परस्परिक प्रभावों और अन्तःसम्बन्धों को समझना इसलिए भी आवश्यक है कि भारतीय संस्कृति एक सशलिष्ट संस्कृति है, उसको खण्ड-खण्ड में विभाजित करके नहीं समझा जा सकता हैं। जैन धारा के अध्ययन के लिए बौद्ध और हिन्दू धाराओं का अध्ययन अपेक्षित है।

जैन आगमों की सम्यक् समझ बौद्ध त्रिपिटक के अध्ययन के बिना सम्यक् रूप से नहीं समझा जा सकता है। जिसने बौद्ध त्रिपिटक को नहीं पढ़ा हो वह ऋषिभाषित के सारिपुत्र और वाज्जियपुत्र या महाकश्यप के उपदेश के हार्द को कैसे समझेगा। पुनः जिसने उपनिषदों को नहीं पढ़ा हो उसके लिए आचारांग में प्रतिपादित आत्मा का स्वरूप अथवा ऋषिभाषित के नारद, असितदेवल, अरुण, उद्दालक, पराशर, याज्ञवल्क्य आदि के उपदेशों को सम्यक् रूप से समझ पाना कठिन है। इसलिए जैन विद्या के अध्येताओं का यह दायित्व है कि वे जैन विद्या के अपने अध्ययन को एकांगी नहीं बनायें। उन्हें इस बात की गम्भीरता से खोज करनी होगी कि जैन धर्म पर दर्शन, साहित्य और कला के क्षेत्र में अन्य परम्पराओं का कितना प्रभाव है। उन्होंने अपनी सहवर्ती परम्पराओं से कितना लिया है और उनमें उनका प्रदान क्या है? भारतीय संस्कृति की विभिन्न धाराओं के बीच हुए आदान-प्रदान को स्पष्ट करना शोध अध्येताओं प्राथमिक दायित्व है।

यद्यपि जैन, बौद्ध और वैदिक धाराओं में धर्म, दर्शन, कलापक्ष आदि को लेकर स्वतन्त्र अध्ययन तो अनेक हुए हैं, किन्तु तुलनात्मक अध्ययन कम ही हुए हैं और जो हुए भी हैं उनमें भी अधिकांश पक्षाग्रह से पीड़ित हैं। उनमें इनकी पारस्परिक प्रभावशीलता और अन्तःसम्बन्धों को तटस्थ और निर्भीक रूप से रखने के प्रयत्न तो अत्यन्त ही विरल हैं। उदाहरण के लिए जैन परम्परा में लोक पुरुष की कल्पना है। जैन चिन्तकों ने उसे गहराई से स्पष्ट भी किया है, किन्तु किसी ने यह नहीं बताया कि यह ऋग्वेद की लोक पुरुष की कल्पना अथवा भागवत की लोक पुरुष की कल्पना से किस प्रकार प्रभावित है और किस प्रकार भिन्न है? पुनः यह अवधारणा जैन परम्परा में कब और किस ग्रन्थ में प्रथम बार आई है? आगमों में ग्रैवेयक देव लोक को ग्रीवा स्थानीय माना तो गया फिर भी स्पष्ट रूप से लोक पुरुष की कल्पना उनमें नहीं है। जबकि जैनकला के क्षेत्र में लोक पुरुष का यह अंकन अत्यन्त प्रिय रहा है। साहित्यिक स्रोतों में लोक पुरुष की यह कल्पना **लोकप्रकाश** के पूर्व प्राचीन जैन ग्रन्थों में कहीं नहीं मिलती है। इसी प्रकार स्वर्ग, नरक, तिर्यक, जम्बूद्वीप आदि की कल्पनाओं में जैन, बौद्ध और वैदिक परम्परा में कहीं समरूपता और कहीं वैभिन्य भी है अतः इनका तुलनात्मक अध्ययन अपेक्षित है।

पुनः तुलनात्मक अध्ययन का अर्थ इतना ही नहीं है कि दोनों परम्पराओं की मान्यताओं को पृथक्-पृथक् रूप से प्रस्तुत कर दिया जाये अपितु अध्येता का यह भी दायित्व है कि वह पूर्वाग्रहों से मुक्त होकर उन्हें ऐतिहासिक क्रम में रखकर यह स्पष्ट करे कि किसने किससे लिया है और किस प्रकार उसमें परिवर्तन किया है।

जैन दर्शन के ग्रन्थों में तत्त्वार्थसूत्र का महत्त्वपूर्ण स्थान है। उसको और उसकी टीकाओं को लेकर अनेक अध्ययन हुए हैं और शोधग्रन्थ भी लिखे गये किन्तु पं० सुखलाल जी के एक अपवाद को छोड़कर किसी जैन विद्वान् ने इस तथ्य को उजागर

करने का प्रयत्न ही नहीं किया कि तत्त्वार्थसूत्र की रचना शैली और उसके सूत्रों पर वैशेषिक सूत्र और योगसूत्र का कितना प्रभाव है। प्राकृत आगम साहित्य का एक विरल किन्तु महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है— ऋषिभाषित। इस ग्रन्थ पर सर्वप्रथम शुब्रिंग की और उसके पश्चात् मेरी लगभग सौ पृष्ठों की प्रस्तावना को छोड़कर किसी ने यह प्रयत्न नहीं किया कि इसमें जिन पैंतालीस ऋषियों के उपदेशों का प्रतिपादन है वे मूलत: किस परम्परा के हैं। प्राकृत भाषा में निबद्ध यह रचना जैन आगमिक परम्परा का ग्रन्थ है, किन्तु इसमें जिन ऋषियों के उपदेश संकलित हैं, वे औपनिषदिक, बौद्ध और अन्य स्वतन्त्र श्रमण परम्पराओं के हैं। जैन परम्परा में उनके उपदेशों का संकलन यही सूचित करता है कि भारत की आध्यात्मिक धारा का स्रोत एक ही है। आज ऋषिभाषित और थेर गाथा जैसे ग्रन्थों का अध्ययन अन्य परम्पराओं के सन्दर्भों के बिना सम्भव नहीं है। ऋषिभासित में प्रतिपादित सारिपुत्र या महाकाश्यप के उपदेशों के लिए बौद्ध त्रिपिटक का और उद्दालक या याज्ञवल्क्य के विचारों को समझने के लिए उपनिषदों का अध्ययन अपेक्षित होगा। तात्पर्य यह है कि बिना तुलनात्मक अध्ययन के अथवा सहवर्ती अन्य धाराओं के अध्ययन के जैनविद्या के अध्ययन एवं शोध के क्षेत्र में एक समग्र दृष्टि का विकास सम्भव नहीं है।

जैनविद्या के क्षेत्र में तुलनात्मक अध्ययन के साथ प्रत्येक अवधारणा के ऐतिहासिक विकासक्रम को जानना भी आवश्यक है। उदाहरण के रूप में जैन आचार शास्त्र में पञ्चमहाव्रतों का, योगसूत्र में पञ्चयमों का और बौद्ध त्रिपिटक में पञ्चशीलों का उल्लेख मिलता है। यह भी सत्य है जहाँ जैन परम्परा के महाव्रतों और योगसूत्र के पञ्चयमों में नाम और क्रम में एकरूपता है, वहाँ बौद्ध परम्परा में अपरिग्रह के स्थान सुरा-मेरय-मद्य निषेध है। अत: तुलनात्मक अध्ययन से यह स्पष्ट हो जायेगा कि बौद्धों ने इस अवधारणा में अपने ढंग से परिवर्तन किया है, क्योंकि महावीर के समान वे अपरिग्रह पर इतना बल नहीं देते थे। पुन: आचारांग में त्रियाम का और भगवतीसूत्र में चातुर्याम का भी उल्लेख है। यह भी ऐतिहासिक सत्य है कि पार्श्वनाथ के चातुर्याम धर्म में महावीर ने ब्रह्मचर्य को जोड़कर उसे पञ्चयाम या पञ्चमहाव्रतरूप बनाया। पुन: त्रियाम का उल्लेख उपनिषदों में है, जिसके अन्तर्गत अहिंसा, सत्य और अस्तेय आते हैं। औपनिषदिक ऋषि पत्नी और परिग्रह रखते थे। पार्श्व ने उसमें अपरिग्रह जोड़कर यह माना कि स्त्री भी परिग्रह है अत: परिग्रह के त्याग में स्त्री का त्याग भी समाहित है। किन्तु जैसा कि सूत्रकृतांग में उल्लिखित है जब स्त्री का त्याग करके भी मैथुन से विरत रहना आवश्यक नहीं माना गया तो महावीर ने ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह को अलग अलग करके पञ्चमहाव्रत बनाये। पुन: महावीर ने यम के स्थान पर उन्हें महाव्रत नाम इसलिए दिया कि गृहस्थ के लिये ये ही अणुव्रतरूप थे। अणुव्रत और महाव्रत का वर्गीकरण महावीर का अपना था। अत: योगसूत्र में जो महाव्रत शब्द आया है, वह

महावीर की परम्परा से गृहीत है, जब कि यम शब्द पार्श्व की परम्परा का है। इससे इनके विकास का ऐतिहासिक क्रम निश्चित हो जाता है कि किस प्रकार त्रियाम से चातुर्याम और चातुर्याम से पञ्चयाम और पञ्चमहाव्रत विकसित हुए। यह एक प्रारूप है। सभी अवधारणाओं के अध्येयन में इस प्रकार के ऐतिहासिक विकासक्रम को समझना आवश्यक है। इस प्रकार के अध्ययन से यह भी निश्चित हो सकेगा कि कौन सी अवधारणा किस परम्परा से किसने ग्रहीत की है।

जैन विद्या के क्षेत्र में अनेक अवधारणाओं का विद्वानों द्वारा गम्भीर और तलस्पर्शी अध्ययन हुआ है। किन्तु उनके ऐतिहासिक क्रम को न समझ पाने के कारण उन्होंने सभी अवधारणाओं को सीधा महावीर या ऋषभ से जोड़ दिया है। मात्र इतना ही नहीं, प्राचीन स्तर के ग्रन्थों को व्याख्यायित करने हेतु भी उन्हीं परवर्ती अवधारणाओं को आधार बना लिया। उदाहरण के लिए तत्त्वार्थसूत्र मूल में कहीं भी गुणस्थान का निर्देश नहीं है, किन्तु तत्त्वार्थसूत्र के सभी श्वेताम्बर या दिगम्बर टीकाकार उसके सूत्रों की व्याख्याओं में जहाँ भी सम्भव होता है इस गुणस्थान सिद्धान्त का विपुल रूप में प्रयोग करते हैं। किन्तु अकादमीय दृष्टि से यह पद्धति उचित नहीं है क्योंकि यह शब्द की मूलात्मा को समझने में भ्रान्ति उत्पन्न करती है।

कौन सी अवधारणा कब विकसित हुई इसको समझने का सर्वसुलभ तरीका यह है कि उस शब्द का उस अर्थ में सर्वप्रथम प्रयोग किस ग्रन्थ में है और उस ग्रन्थ का रचना काल कब का है? गुणस्थान शब्द का प्रयोग मूल आगमों और तत्त्वार्थसूत्र (तीसरी-चौथी शती) में कहीं नहीं है, जबकि छठी शती या उसके बाद निर्मित आगमिक व्याख्याओं और तत्त्वार्थसूत्र की टीकाओं में है इससे यह फलित होता कि गुणस्थान सिद्धान्त चौथी शताब्दी के पश्चात् और छठी शती के पूर्व अर्थात् पांचवी शती में अस्तित्व में आया है। पुनः इस तुलनात्मक और ऐतिहासिक विकासक्रम में किसी अवधारणा के प्रकारों की संख्याओं के निर्धारण के आधार पर भी अनेक महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं। जैसे तत्त्वार्थसूत्र में आध्यात्मिक विकास की चार, सात और दस अवस्थाओं का चित्रण है। हम देखते हैं कि उपनिषदों और हीनयान् सम्प्रदाय में भी इसकी चार ही अवस्थाओं का चित्रण है। योगवशिष्ट में ज्ञान की सात अवस्था बतायी गयी है, जबकि महायान सम्प्रदाय में आध्यात्मिक विकासक्रम की दस भूमियाँ बताई गई हैं। अतः यह विचार सम्भव है कि संख्या निर्धारण अकस्मात् नही होता है, वह भी अन्य परम्पराओं से प्रभावित हो सकता है। अतः अध्ययन करते समय इस संख्यात्मक पक्ष पर भी ध्यान देना चाहिए। उदाहरण के लिए षडावश्यक, गृहस्थ के षट्कर्म तथा तन्त्र के मारण आदि षट्कर्मों की संख्या के निर्धारण में एक दूसरे का प्रभाव परिलक्षित होता है। तुलनात्मक समग्र अध्ययन के स्थान पर एकपक्षीय अध्ययन का सबसे बड़ा दोष यही है कि अनेक स्थितियों में वह हमारी व्याख्याओं को भ्रान्त बना देता है। अपनी

परम्परा के व्यामोह और अन्य परम्पराओं के ज्ञान के अभाव में ऐसी भ्रान्तियाँ जन्म लेती हैं। उदाहरण के लिए शीलांक जैसा आचारांग का समर्थ टीकाकार त्रियाम (तज्नामा) का सही अर्थ नहीं कर पाया क्योंकि वह उपनिषदों के त्रियाम से परिचित नहीं था। वे अपनी परम्परा में ही त्रियाम का अर्थ खोजते रहे। इसी प्रकार राहुल सांस्कृत्यायन जैसे समर्थ विद्वान् भी 'सव्ववारि वारिते' शब्द का सम्यक् अर्थ लगाने में इसलिए असफल रहे हैं, क्योंकि उन्होंने सूत्रकृतांग की वीर स्तुति नहीं देखी थी जिसमें वारि शब्द पानी के अर्थ में प्रयुक्त न होकर पाप के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। न केवल सहवर्ती अन्य परम्पराओं का अपितु अपनी ही परम्परा के आवान्तर सम्प्रदायों के ज्ञान का अभाव भी ऐसी ही भ्रान्तियाँ उत्पन्न करता है। मूलाचार के समर्थ टीकाकार दिगम्बर विद्वान् वसुनन्दी दस कल्पों की चर्चा के प्रसंग में आये पज्जोसवणा शब्द का सम्यक् अर्थ इसलिये नहीं समझ सके क्योंकि वे उत्तर भारत में श्वेताम्बर परम्परा में प्रचलित पर्यूषणा कल्प से अपरिचित थे। समयसार में आये **'अपदेशसुत्तमज्झं'** का अर्थ करने में उसके अनेक टीकाकार इसलिए असमर्थ रहे कि उन्हें आचाराङ्ग सूत्र में आत्मा को अव्यपदेश बताने वाला प्रसंग ज्ञात नहीं था। हमारे ही युग के प्रसिद्ध जैन विद्वान् कैलाशचन्द जी ने भगवतीआराधना में आये हुए उवणारियो शब्द को इसलिए अस्पष्ट कहकर छोड़ दिया क्योंकि वे श्वेताम्बर परम्परा में प्रचलित स्थानाचार्य की अवधारणा से अपरिचित थे। ये तो मैने कुछ संकेत दिये हैं, ऐसी अनेक भ्रान्तियाँ एकपक्षीय अध्ययन प्रणाली के कारण जन्म लेती हैं। अत: यथासम्भव हमें अपने अध्ययन बहु आयामी या समग्र बनाने का प्रयत्न करना चाहिये। इसी प्रकार जैनविद्या का जो दार्शनिक पक्ष है, उसका भी तुलनात्मक दृष्टि से अध्ययन अपेक्षित है। बिना अन्य दर्शनों की मान्यताओं का अध्ययन किये दर्शन के क्षेत्र में जैनों के अवदान को नहीं समझा जा सकता है। दर्शन के क्षेत्र में जैनों का सबसे महत्त्वपूर्ण अवदान यह है कि उन्होंने न केवल परस्पर एक दूसरे के विरोध में खड़ी हुई दार्शनिक अवधारणा की कमियों की समीक्षा की अपितु उनको एक दूसरे से समन्वित कर दर्शन के क्षेत्र में एक समग्रतावादी अध्ययन विधा को विकसित किया। उन्होंने यह बताया कि परस्पर एक दूसरे के विरोध में खड़ी हुई दार्शनिक मान्यताओं को समन्वित करके समग्र सत्य का दर्शन किया जा सकता है। दर्शन के क्षेत्र में जैन और बौद्ध दोनों परम्पराओं ने ऐकान्तिक मान्यता की समीक्षा की और उनसे मुक्त होने की सलाह दी किन्तु जैन परम्परा ने उससे एक कदम आगे बढ़कर यह कहा कि सभी दर्शन आंशिक या सापेक्षिक सत्य को प्रस्तुत करते हैं, अत: उनमें यह सत्य है और यह असत्य है ऐसा भेद नहीं किया जाना चाहिए। असत्य का जन्म तो आग्रह या मतान्धता की गोद में होता है। यदि हमें, सम्पूर्ण सत्य का दर्शन करना है तो यह समग्र दृष्टि से ही सम्भव है। यह सिद्धसेन और हरिभद्र जैसे दार्शनिकों की दृष्टि थी जिसने प्रतिपक्ष में निहित सत्य को देखने का प्रयत्न किया और दर्शनों के मध्य जो विरोध था, उसका समाहार किया। यहां मेरा उद्देश्य विद्वानों को जैन दर्शन

के अनेकान्तवाद का परिचय देना नहीं है, केवल यह दिखाना है कि जैनों की समग्रतावादी दृष्टि ने किस प्रकार नित्यवाद-अनित्यवाद, द्वैतवाद-अद्वैतवाद, सामान्यवाद-विशेषवाद आदि परस्पर विरोधी दार्शनिक मान्यताओं को समन्वित कर समग्र सत्य की उद्भावना की। यह समग्रतावादी अध्ययन दृष्टि ही है जो प्रतिस्पर्द्धी दर्शनों के मध्य निहित सत्यता का दिग्दर्शन करा सकती है। अत: उसके विकास के लिए अन्य दार्शनिक धाराओं का मताग्रहों से परे उठकर तटस्थ अध्ययन आवश्यक है। जैनाचार्यों का स्पष्ट उद्घोष है कि सत्य के सूर्य का दर्शन केवल अनाग्रही, व्यापक एवं समग्रतावादी बहुआयामी दृष्टि से ही सम्भव है। मतान्धता या आग्रह का चश्मा उसे समझने में बाधक है। अन्त में साहित्य और कला के क्षेत्र में जैनों के अवदान और उनके अध्ययन की आवश्यकता का संकेत करके अपनी बात को समाप्त करना चाहूंगा। प्राचीन भारतीय साहित्य के क्षेत्र में जैनों का अवदान लगभग ३०% से अधिक ही है। जैनाचार्यों ने संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, तमिल, कन्नड़, मरु-गुर्जर, आधुनिक हिन्दी और गुजराती भाषाओं में विपुल साहित्य का सर्जन किया है। पुन: यह जो साहित्य है वह भी बहु आयामी है। धर्म, दर्शन, आचार, उपदेश, कथा, सृष्टि विज्ञान, खगोल, भूगोल, ज्योतिष, निमित्तशास्त्र, चिकित्सा, ललित कलाएँ, काव्य, नाटक, छन्दशास्त्र, व्याकरण शास्त्र आदि अनेक विधाओं पर जैन आचार्यों ने अपनी लेखनी चलाई है। अभी तक तो इनका सम्पूर्ण सूचीकरण भी नहीं हो पाया है। एक मोटे अनुमान से सम्पूर्ण जैन ग्रन्थों की संख्या लगभग तीस-चालीस हजार से कम नहीं होगी। अभी तो षट्खण्डागम, कसायपाहुड जैसे सैकड़ों दुर्लभ ग्रन्थ भण्डारों में पड़े हुए अपने उद्धार की प्रतीक्षा में हैं। इन सबके सम्पादन, अनुवाद, व्याख्या और प्रकाशन में जैन विद्या के विद्वानों की अनेक पीढ़ियाँ खप जायेगीं।

यही स्थिति जैन कला, पुरावशेषों और अभिलेखों की भी है। विश्व के पुरातन कला वैभव के क्षेत्र में भी जैनों का अवदान कम नहीं है। श्रवणबेलगोला, जिनकाञ्ची, धर्मस्थल, देवगढ़, मथुरा, खजुराहो, आबू, राणकपुर, तारङ्गा, ओसिया, जैसलमेर जैसे सैकड़ों जैन स्थल हैं जो अपने कलापूर्ण वैभव के लिए के विश्व में प्रख्यात हैं, किन्तु अभी तो चौसा, मथुरा, देवगढ़ के समान विपुल सामग्री भूगर्भ में दबी पड़ी है, संयोग से जो सामग्री हमें मिल जाती है उसे छोड़ दें तो अभी अनेक ऐसे जैन स्थल हैं, जिनका वैज्ञानिक ढंग से उत्खनन आवश्यक है। जो सामग्री उपलब्ध है उसके भी सम्यक् अध्ययन का कितना प्रयत्न हुआ है और कितना अभी शेष है, इसे सभी विद्वान् अच्छी तरह जानते हैं। मथुरा के कंकाली टीले एवं अन्यत्र से प्राप्त लगभग एक सहस्र पुरावशेष और मूर्तियाँ केवल लखनऊ संग्रहालय में हैं, जो जैन धर्म के सम्प्रदायों के विकास एवं जैन कला के विकास की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्व के हैं, किन्तु इस दृष्टि उनका स्वल्प अध्ययन ही हुआ है। इसी प्रकार मथुरा से प्राप्त दो सौ के लगभग जैन अभिलेख

हैं जो उसके सम्प्रदायों के विकासक्रम और तत्कालीन सामाजिक स्थिति को समझने में अत्यन्त सहायक हैं, किन्तु इस दृष्टि से इनका अध्ययन किसने किया है? ये तो मैने कुछ संकेत सूत्र दिये हैं, अभी तो जैनविद्या के क्षेत्र में बहुत कुछ करणीय है, जिस पर न केवल विस्तृत चर्चा अपेक्षित है, अपितु उस दिशा में कुछ कदम भी उठाने होंगे, जिसके लिए शासन, समाज और विद्वानों की सक्रिय भागीदारी आवश्यक है।



'कषायमुक्तिः किल मुक्तिरेव'

जैन साधना कषायों के विजय की साधना है। आचार्य हरिभद्र ने तो बहुत ही स्पष्ट शब्दों में कहा था कि 'कषायों से मुक्ति ही वास्तविक अर्थ में मुक्ति है (कषायमुक्तिः किल मुक्तिरेव)। कषाय जैन दर्शन का पारिभाषिक शब्द है। यद्यपि बौद्ध परम्परा में 'धम्मपद' (२२३) में और हिन्दू परम्परा में छान्दोग्य उपनिषद् (७/२६/२) तथा महाभारत में शान्तिपर्व (२४४/३) में कषाय शब्द का प्रयोग अशुभ चित्तवृत्तियों के अर्थ में हुआ है; फिर भी इन दोनों परम्पराओं में कषाय शब्द का प्रयोग विरल ही देखा जाता है, जबकि जैन परम्परा में इस शब्द का प्रयोग प्रचुरता से देखा जाता है। जैन आचार्यों द्वारा इसकी व्युत्पत्तिपरक परिभाषाएँ अनेक दृष्टिकोणों से की गई हैं। सामान्यतया वे मनोवृत्तियाँ या मानसिक आवेग जो हमारी आत्मा को कलुषित करते हैं, हमारे आत्मीय सद्गुणों को कृश करते हैं, जिनसे आत्मा बन्धन में आती है और उसके संसार परिभ्रमण अर्थात् जन्म-मरण में वृद्धि होती है, उन्हें कषाय कहते हैं। दशवैकालिकसूत्र में कहा गया है कि "अनिग्रहित क्रोध और मान तथा वृद्धिगत माया तथा लोभ- ये चारों कषायें पुनर्जन्मरूपी वृक्ष का सिंचन करती हैं, दुखः के कारण हैं, अतः समाधि के साधक उन्हें त्याग दें"। उत्तराध्ययनसूत्र में राग और द्वेष को कर्म का बीज कहा गया है। राग-द्वेष के कारण ही कषायों का जन्म होता है। स्थानागसूत्र में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि पाप कर्म की उत्पत्ति के दो स्थान हैं— राग और द्वेष। राग से लोभ का और लोभ से कपट अर्थात् माया का जन्म होता है। दूसरी ओर द्वेष से क्रोध का और क्रोध से अहंकार का जन्म होता है। इस प्रकार कषायों की उत्पत्ति के मूल में राग-द्वेष की वृत्ति ही काम करती है। यह भी सुनिश्चित है कि राग-द्वेष के मूल में भी राग ही प्रमुख तत्त्व है। राग की उपस्थिति में ही द्वेष का जन्म होता है। अतः संक्षेप में कहें तो सम्पूर्ण कषायों के मूल में राग या आसक्ति का तत्त्व ही प्रमुख है। वही कषायों का पिता है। राग-द्वेष से क्रोध, मान, माया और लोभ- इन चार कषायों का क्या सम्बन्ध है, इसकी विस्तृत चर्चा विशेषावश्यक भाष्य में विभिन्न नयों या अपेक्षाओं के आधार पर की गई है। संग्रह नय की अपेक्षा से क्रोध और मान द्वेष रूप हैं, जबकि माया और लोभ राग रूप हैं। क्योंकि प्रथम दो में दूसरे की अहित भावना है और अन्तिम दो में अपनी स्वार्थ-साधना का लक्ष्य है। व्यवहारनय की दृष्टि से क्रोध,

मान और माया- तीनों द्वेष रूप हैं, क्योंकि माया भी दूसरे के विघात का विचार ही है। केवल लोभ अकेला रागात्मक है, क्योंकि उसमें ममत्वभाव है। किन्तु ऋजुसूत्रनय की दृष्टि से केवल क्रोध ही द्वेषरूप है, शेष कषाय-त्रिक-को न तो एकान्त रूप से राग-प्रेरित कहा जा सकता है, न द्वेष-प्रेरित। राग-प्रेरित होने पर वे राग-रूप हैं और द्वेष-प्रेरित होने पर द्वेषरूप होती हैं।[१] फिर भी यह तो सत्य ही है कि ये चारों कषाय मूलतः व्यक्ति की राग-द्वेषात्मक वृत्तियों की ही बाह्य अभिव्यक्तियाँ हैं। वस्तुतः व्यक्ति में निहित वासना के तत्त्व अपनी विधेयात्मक अवस्था में राग और निषेधात्मक अवस्था में द्वेष बन जाते है और ये राग-द्वेष के तत्त्व ही अपनी आवेगात्मक अभिव्यक्तिमें क्रोध, मान, माया और लोभ अर्थात् कषाय बन जाते हैं। इस प्रकार कषाय राग-द्वेष की बाह्य अभिव्यक्ति है और राग-द्वेष कषायों के अन्तरंग बीज हैं। राग-द्वेष के अभाव में कषायों की सत्ता नहीं है। कषायें राग-द्वेष रूपी युगल से ही जन्म लेती हैं, उन्हीं से सम्पोषित होती हैं और इनके मरने पर मर जाती हैं।

कषाय और मिथ्यात्व— कषायों की उपरोक्त चर्चा के प्रसंग में हमने यह देखा कि कषायों का जन्म राग-द्वेष की वृत्तियों से होता है। पुनः यदि हम यह विचार करें कि कषायों को जन्म देने वाली ये राग-द्वेष की वृत्तियाँ किसके आधार पर जन्म लेती हैं और सम्पोषित होती हैं, तो इस सम्बन्ध में उत्तराध्ययनसूत्र का स्पष्ट निर्देश है कि राग-द्वेष और कषायों का मूलभूत कारण मोह है। इसे अज्ञान या अविवेक दशा भी कहा जा सकता है। किन्तु इससे आगे बढ़कर जब यह पूछा जाए कि यह मोह, अज्ञान या अविवेक क्यों उत्पन्न होता है या किसके द्वारा उत्पन्न होता है, तो हमें कहना पड़ता है कि इसका मूल कारण कषाय ही है।

वस्तुतः जैन दर्शन में यह एक प्रमुख दार्शनिक समस्या है कि यदि कषायों का कारण मोह या मिथ्यात्व है, तो मोह या मिथ्यात्व का कारण क्या है? सम्प्रति इन प्रश्नों को लेकर जैन चिन्तकों में एक विवाद छिड़ा हुआ है, मिथ्यात्व और कषाय में कौन प्रमुख है और कौन गौण है? यह प्रश्न आज निश्चयनय पर अधिक बल देने वाले कानजी स्वामी के समर्थक पण्डितों एवं व्यवहारनय की उपेक्षा नहीं करने वाले पूज्य आचार्य विद्यासागर जी के समर्थकों के बीच विवाद का विषय बना हुआ है। एक ओर पू० कानजी स्वामी के समर्थक विद्वानों का कहना है कि बन्धन का मूलभूत कारण मिथ्यात्व है और कषाय अकिंचित्कर है, क्योंकि कषायों का जन्म भी मिथ्यात्व से होता है। दूसरी ओर आचार्य विद्यासागर जी के समर्थक विद्वानों का कहना है कि कषाय ही बन्धन का प्रमुख कारण है, मिथ्यात्व अकिंचित्कर है। क्योंकि मिथ्यात्व का जन्म और सत्ता दोनों ही अनन्तानुबन्धी कषायों की उपस्थिति में ही संभव है। अनन्तानुबन्धी कषायों के अभाव में मिथ्यात्व की सत्ता नहीं है। इस प्रकार हम देखते हैं कि दोनों ही पक्ष अपने-अपने आग्रहों पर खड़े हुए हैं। वस्तुतः मिथ्यात्व और कषाय ये दोनों ही परस्पर आश्रित हैं

और यह भी सत्य है कि तीव्रतम कषायों की उपस्थिति में ही मिथ्यात्व की सत्ता सम्भव होती है। वस्तुतः मिथ्यात्व और कषाय दोनों ही परोपजीवी हैं, मिथ्यात्व के अभाव में कषाय नहीं होती है और कषाय के अभाव में मिथ्यात्व भी नहीं होता है। वस्तुतः चिन्तन की अपेक्षा से ही कषाय और मिथ्यात्व को अलग-अलग किया जा सकता है। सत्ता में तो वे एक-दूसरे के अनुस्यूत होकर ही रहते हैं। व्यक्ति में कषायों के आवेग तभी उत्पन्न होते हैं, जब वह मोहग्रस्त या अज्ञान से घिरा होता है, किन्तु जैसे ही वह अज्ञान या मिथ्यात्व का घेरा तोड़ता है, उसके कषाय समाप्त हो जाते हैं। वस्तुतः मिथ्यात्व के बिना कषाय-भाव नहीं होते हैं और कषाय के बिना मिथ्यात्व भी नहीं होता है। एक की सत्ता पर दूसरे की सत्ता आधारित है, इनमें से कोई भी न तो अकिंचित्कर है और न दूसरे से निरपेक्ष ही। उत्तराध्ययनसूत्र में इसी समस्या का समाधान किंचित् भिन्न शब्दों में किया गया है। जिस प्रकार अण्डा और मुर्गी में कौन प्रथम, इस समस्या का समाधान नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार मिथ्यात्व और कषाय में भी कौन प्रथम या महत्त्वपूर्ण है और कौन गौण या कम महत्त्वपूर्ण है, इसका निर्णय नहीं किया जा सकता है। जिस प्रकार अण्डे के बिना मुर्गी और मुर्गी के बिना अण्डा सम्भव नहीं है, उसी प्रकार मिथ्यात्व के बिना कषाय और कषाय के बिना मिथ्यात्व सम्भव नहीं है। इनमें से किसी की भी पूर्व कोटि निर्धारित नहीं की जा सकती है, क्योंकि दोनों परोपजीवी या परस्पराश्रित हैं।

कषाय और कर्म-बन्ध

जैन दर्शन निरीश्वरवादी दर्शन है, अतः उसमें कर्म-सिद्धान्त को ही सर्वोपरिता दी गई है। व्यक्ति का संसार में परिभ्रमण ईश्वर के अधीन न होकर कर्मव्यवस्था के अधीन माना गया है, फलतः जैन दार्शनिकों ने कर्म के बन्धन और विपाक की तलस्पर्शी गम्भीर विवेचना की है। इसी क्रम में कर्म-बन्ध क्यों और कैसे होता है? इसकी चर्चा करते हुए उन्होंने कर्म-बन्ध के निम्न पाँच कारणों का उल्लेख किया है— (१) मिथ्यात्व, (२) अविरति (असंयम), (३) प्रमाद, (४) कषाय और (५) योग। ज्ञातव्य है कि यहाँ 'योग' से तात्पर्य मन, वचन एवं शरीर की गतिविधियाँ हैं। यदि इन पाँच कारणों का विश्लेषण करें तो हम यह पाते हैं कि मिथ्यात्व, अविरति और प्रमाद मूलतः कषाय के कारण ही होते हैं। कषायों की अनन्तानुबन्धी चौकड़ी मिथ्यात्व का कारण है क्योंकि कषायों की इस अनन्तानुबन्धी चौकड़ी की उपस्थिति में ही मिथ्यात्व सम्भव होता है। जैसे ही कषायों की यह अनन्तानुबन्धी चौकड़ी समाप्त होती है, मिथ्यात्व भी समाप्त हो जाता है और सम्यग्दर्शन प्रकट हो जाता है। इससे यह सुनिश्चित होता है कि मिथ्यात्व का कारण कषाय है। इसी प्रकार अविरति अर्थात् असंयम का कारण भी अनन्तानुबन्धी अथवा अप्रत्याख्यानी कषाय ही होते हैं। कषाय की अप्रत्याख्यानी चौकड़ी के समाप्त होने पर विरति या संयम का प्रकटन होता है। जब तक अप्रत्याख्यानी कषाय का उदय

है, तब तक संयम या विरति संभव नहीं है। इसी प्रकार अविरति का कारण भी कषाय ही है। जब हम बन्ध के तीसरे हेतु प्रमाद पर विचार करते हैं, तो भी हमें स्पष्ट लगता है कि प्रमाद की सत्ता भी कषाय के कारण ही है। जब तक प्रत्याख्यानी कषायों की चौकड़ी सत्ता में है तब तक प्रमाद की भी सत्ता है। गुणस्थान सिद्धान्त में भी स्पष्ट रूप से यह बताया गया है कि प्रत्याख्यानी कषाय-चतुष्क के उदय में रहते हुए अप्रमत्त-संयत्त गुणस्थान की उपलब्धि सम्भव नहीं होती है। मात्र इतना ही नहीं, प्रबुद्ध जैनाचार्यों ने कषायों को प्रमाद का ही एक प्रकार माना है। इस प्रकार हम देखते हैं कि मिथ्यात्व, अविरति और प्रमाद- तीनों का हेतु कषाय ही है। अनन्तानुबन्धी कषाय-चतुष्क के क्षय से मिथ्यात्व का क्षय होता है। अप्रत्याख्यानी कषाय-चतुष्क के क्षय या क्षयोपशम से प्रमाद समाप्त होता है अत: मिथ्यात्व, अविरत और प्रमाद के मूल में कषाय ही रहे हुए हैं। कषयों के अभाव में इनकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं रहती है, अत: बन्धन के प्रथम चार कारणों में कषाय ही प्रमुख कारण है, शेष मिथ्यात्व, अविरति और प्रमाद तो उसके आनुषंगिक ही हैं, कषाय की सत्ता में ही उनकी सत्ता है। निष्कर्ष यह है कि बन्धन के दो ही कारण हैं— कषाय और योग। इन दोनों कारणों में भी योग बन्धन का निमित्त कारण है। कषायों के अभाव में उसमें बन्धन का सामर्थ्य नहीं है। जैन दर्शन की मान्यता है कि कषाय के अभाव में मात्र योग के परिणामस्वरूप जो ईर्यापथिक आस्रव और बन्ध होता है वह क्षणिक ही है। उसमें प्रथम समय में बन्ध होता है और दूसरे समय में वह निर्जरित हो जाता है। वस्तुत: इस प्रकार का बन्ध वास्तविक बन्ध नहीं है। जैसे पानी में खींची गई लकीर खींचने के साथ ही समाप्त हो जाती है, उसी प्रकार ईर्यापथिक बन्ध अपने बन्धन के साथ ही समाप्त हो जाता है। इस समस्त चर्चा का फलित यह है कि कषाय ही बन्धन के प्रमुख कारण हैं, योग तो अकिंचित्कर है। जिस प्रकार घी के अभाव में लड्डू बंधता नहीं है, उसी प्रकार कषाय के अभाव में कर्म भी बंधते नहीं हैं।

पुन: जैन कर्म-सिद्धान्त में बन्धन के चार प्रकार माने गये हैं- (१) प्रकृति बन्ध, (२) प्रदेश बन्ध, (३) स्थिति बन्ध और (४) अनुभाग बन्ध। यदि हम बन्धन के उपरोक्त दो कारण-कषाय और योग के सन्दर्भ में बन्धन के इन चार प्रकारों की चर्चा करें, तो हम यह पाते हैं कि योग प्रकृति-बन्ध और प्रदेश-बन्ध के कारण हैं; जबकि कषाय स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध के कारण हैं। योग अर्थात् हमारी मानसिक, वाचिक और कायिक क्रियाओं द्वारा कर्मों की प्रकृति अर्थात् उनका स्वरूप और उनके प्रदेश अर्थात् मात्रा निर्धारित होती है। किन्तु यह ठीक वैसा ही है जैसा लड्डू बनाने के लिए वस्तु विशेष का एक निर्धारित मात्रा में लाया गया आटा हो। उससे लड्डू तो तभी बनेगा जब उसमें घी और शक्कर का सम्मिश्रण होगा। इसी प्रकार कर्म-बन्ध की प्रक्रिया में भी स्थिति और अनुभाग अर्थात् रस का निर्धारण कषायों के माध्यम से ही होता है। कषाय रूपी घी और शक्कर ही उस आटे को लड्डू के रूप में परिगत करते हैं। कर्म-बन्ध

में स्थिति अर्थात् काल मर्यादा और अनुभाग अर्थात् उनकी विपाकानुभूति (रस) का निर्धारण तो कषाय के द्वारा ही होता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि कर्म-बन्ध और विपाक (कर्म-फल) में मुख्य भूमिका कषाय की ही है। कषायों की तरतमता ही व्यक्ति के बन्धन के स्वरूप का निर्धारक तत्त्व है। संक्षेप में कहें, तो कषाय ही बन्धन के कारण हैं, हमारे सांसारिक अस्तित्व के आधार हैं और कषायों का क्षय या अभाव ही मुक्ति है।

कषाय के भेद

आवेगों की अवस्थाएँ भी तीव्रता की दृष्टि से समान नहीं होती हैं, अत: तीव्र आवेगों को कषाय और मंद आवेगों या तीव्र आवेगों के प्रेरकों को नो-कषाय (उप-कषाय) कहा गया है। कषायें चार हैं- १. क्रोध, २. मान, ३. माया और ४. लोभ। आवेगात्मक अभिव्यक्तियों की तीव्रता के आधार पर इनमें से प्रत्येक को चार-चार भागों में बाँटा गया है- १. तीव्रतम, २. तीव्रतर, ३. तीव्र और ४. मंद। आध्यात्मिक दृष्टि से तीव्रतम क्रोध आदि व्यक्ति के सम्यक् दृष्टिकोण या विवेक में विकार ला देते हैं। तीव्रतर क्रोध आदि आत्म-नियन्त्रण की शक्ति को छिन्न-भिन्न कर डालते हैं। तीव्रक्रोध आदि आत्मनियन्त्रण की शक्ति के उच्चतम विकास में बाधक होते हैं। मंद क्रोध आदि व्यक्ति को पूर्ण वीतराग नहीं होने देते।[२] चारों कषायों की तीव्रता के आधार पर चार-चार भेद हैं। अत: कषायों की संख्या १६ हो जाती हैं। निम्न नो उप-आवेग, उप-कषाय या कषाय-प्रेरक माने गये हैं— १. हास्य, २. रति, ३. अरति, ४. शोक, ५. भय, ६. घृणा, ७. स्त्रीवेद (पुरुष-सम्पर्क की वासना), ८. पुरुषवेद (स्त्री-सम्पर्क की वासना) और ९. नपुंसकवेद (दोनों के सम्पर्क की वासना)। इस प्रकार कुल २५ कषायें हैं।[३]

क्रोध

यह एक मानसिक किन्तु उत्तेजक आवेग है। उत्तेजित होते ही व्यक्ति भावाविष्ट हो जाता है। उसकी विचार-क्षमता और तर्क-शक्ति लगभग शिथिल हो जाती है। भावात्मक स्थिति में बढ़े हुए आवेग की वृत्ति युयुत्सा को जन्म देती है। युयुत्सा से अमर्ष और अमर्ष से आक्रमण का भाव उत्पन्न होता है। मनोवैज्ञानिकों के अनुसार क्रोध और भय में यही मुख्य अन्तर है कि क्रोध के आवेग में आक्रमण का और भय के आवेग में आत्म-रक्षा का प्रयत्न होता है। जैन-दर्शन में सामान्यतया क्रोध के दो रूप मान्य हैं— १. द्रव्यक्रोध और २. भाव-क्रोध[४] द्रव्य-क्रोध को आधुनिक मनोवैज्ञानिक दृष्टि से क्रोध का आंगिक पक्ष कहा जा सकता है, जिसके कारण क्रोध में होनेवाले शारीरिक परिवर्तन होते हैं। भावक्रोध क्रोध की मानसिक अवस्था है। क्रोध का अनुभूत्यात्मक पक्ष भाव-क्रोध है, जबकि क्रोध का अभिव्यक्त्यात्मक या शरीरात्मक पक्ष द्रव्य-क्रोध है। क्रोध के विभिन्न रूप हैं। भगवतीसूत्र में इसके दस समानार्थक नाम वर्णित हैं— १. क्रोध- आवेग की उत्तेजनात्मक अवस्था. २. कोप-क्रोध से उत्पन्न

स्वभाव की चंचलता, ३. दोष- स्वयं पर या दूसरे पर दोष थोपना, ४. रोष-क्रोध का परिस्फुट रूप, ५. संज्वलन-जलन या ईर्ष्या की भावना, ६. अक्षमा- अपराध क्षमा न करना, ७. कलह-अनुचित भाषण करना, ८. चाण्डिक्य-उग्ररूप करना, ९. मंडन-हाथापाई करने पर उतारू होना, १०. विवाद-आक्षेपात्मक भाषण करना।

क्रोध के प्रकार— क्रोध के आवेग की तीव्रता एवं मन्दता के आधार पर चार भेद किए गए हैं, जो इस भांति हैं-

१. **अनन्तानुबंधी क्रोध (तीव्रतम क्रोध)**- पत्थर में पड़ी दरार के समान क्रोध, जो किसी के प्रति एक बार उत्पन्न होने पर जीवनपर्यन्त बना रहे, कभी समाप्त न हो।

२. **अप्रत्याख्यानी क्रोध (तीव्रतर क्रोध)**- सूखते हुए जलाशय की भूमि में पड़ी दरार, जैसे आगामी वर्षा होते ही मिट जाती है, वैसे ही अप्रत्याख्यानी क्रोध एक वर्ष से अधिक स्थाई नहीं रहता और किसी के समझाने से शान्त हो जाता है।

३. **प्रत्याख्यानी क्रोध (तीव्र क्रोध)**- बालू की रेखा जैसे हवा के झोकों से जल्दी ही मिट जाती है, वैसे ही प्रत्याख्यानी क्रोध चार-मास से अधिक स्थायी नहीं होता।

४. **संज्वलन क्रोध (अल्पक्रोध)**- शीघ्र ही मिट जाने वाली पानी में खींची गयी रेखा के समान इस क्रोध में स्थायित्व नहीं होता है।

बौद्धदर्शन में भी क्रोध को लेकर व्यक्तियों के तीन प्रकार माने गये हैं- १. वे व्यक्ति जिनका क्रोध पत्थर पर खींची रेखा के समान चिरस्थायी होता है, २. वे व्यक्ति जिनका क्रोध पृथ्वी पर खींची हुई रेखा के समान अल्प-स्थायी होता है, ३. वे जिनका क्रोध पानी पर खींची रेखा के समान अस्थायी होता है। दोनों परम्पराओं में प्रस्तुत दृष्टान्त-साम्य विशेष महत्त्वपूर्ण है।[५]

मान (अहंकार)

अहंकार करना मान है। अहंकार जाति, कुल, बल, ऐश्वर्य, साधना, ज्ञान आदि किसी भी विशेषता का हो सकता है। मनुष्य में स्वाभिमान की मूल प्रवृत्ति होती है, परन्तु जब स्वाभिमान की वृत्ति दम्भ या प्रदर्शन का रूप ले लेती है, तब मनुष्य अपने गुणों एवं योग्यताओं का बढ़े-चढ़े रूप में प्रदर्शन करता है और इस प्रकार उसके अन्त:करण में मानवृत्ति का प्रादुर्भाव हो जाता है। अभिमानी मनुष्य अपनी अहंवृत्ति का पोषण करता रहता है। उसे अपने से बढ़कर या अपनी बराबरी का गुणी व्यक्ति कोई दिखता ही नहीं।

जैन परम्परा में प्रकारान्तर से मान के आठ भेद मान्य हैं— १. जाति मद, २. कुल मद, ३. बल (शक्ति) मद, ४. ऐश्वर्य मद, ५. तप मद, ६. ज्ञान मद (सूत्रों का ज्ञान), ७. सौन्दर्य मद और ८. अधिकार (प्रभुता)। मान को मद भी कहा गया है।

मान निम्न बारह रूपों में प्रकट होता है[१]- १. **मान**- अपने किसी गुण पर अहंवृत्ति, २. **मद**- अहंभाव में तन्मयता, ३. **दर्प**- उत्तेजना पूर्ण अहंभाव, ४. **स्तम्भ**- अविनम्रता, ५. **गर्व**- अहंकार, ६. **अत्युक्रोश**- अपने को दूसरे से श्रेष्ठ कहना, ७. **परपरिवाद**- परनिन्दा, ८. **उत्कर्ष**- अपना ऐश्वर्य प्रकट करना, ९. **अपकर्ष**- दूसरों को तुच्छ समझना, १०. **उन्नतनाम**- गुणी के सामने भी न झुकना, ११. **उन्नत**- दूसरों को तुच्छ समझना और १२. **पुर्नाम**- यथोचित रूप से न झुकना।

अहंभाव की तीव्रता और मन्दता के अनुसार मान के भी चार भेद हैं—

१. **अनंतानुबन्धी मान**- पत्थर के खम्भे के समान जो झुकता नहीं, अर्थात् जिसमें विनयगुण नाममात्र को भी नहीं है।

२. **अप्रत्याख्यानी मान**- हड्डी के समान कठिनता से झुकने वाला अर्थात् जो विशेष परिस्थितियों में बाह्य दबाव के कारण विनम्र हो जाता है।

३. **प्रत्याख्यानी मान**- लकड़ी के समान प्रयत्न से झुक जाने वाला अर्थात् जिसके अन्तर में विनम्रता तो होती है, लेकिन जिसका प्रकटन विशेष स्थिति में ही होला है।

४. **संज्वलन मान**- बेंत के समान अत्यन्त सरलता से झुक जानेवाला अर्थात् जो आत्म-गौरव को रखते हुए भी विनम्र बना रहता है।

माया

कपटाचार माया कषाय है। भगवतीसूत्र के अनुसार इसके पन्द्रह नाम हैं[२]- १. **माया**- कपटाचार, २. **उपाधि**- ठगने के उद्देश्य से व्यक्ति के पास जाना, ३. **निकृति**- ठगने के अभिप्राय से अधिक सम्मान देना, ४. **वलय**- वक्रता पूर्ण वचन, ५. **गहन**- ठगने के विचार से अत्यन्त गूढ़ भाषण करना, ६. **नूम**- ठगने के हेतु निकृष्ट कार्य करना, ७. **कल्क**- दूसरों को हिंसा के लिए उभारना, ८. **करूप**- निन्दित व्यवहार करना, ९. **निह्वता**- ठगाई के लिए कार्य मन्द गति से करना, १०. **किल्विषिक**- भांडों के समान कुचेष्टा करना, ११. **आदरणता**- अनिच्छित कार्य भी अपनाना, १२. **गूहनता**- अपनी करतूत को छिपाने का प्रयत्न करना, १३. **वंचकता**- ठगी और १४. **प्रति-कुंचनता**- किसी के सरल रूप से कहे गये वचनों का खण्डन करना, १५. **सातियोग**-उत्तम वस्तु में हीन वस्तु की मिलावट करना। ये सब माया की ही विभिन्न अवस्थाएँ हैं।

माया के चार प्रकार— १. अनंतानुबन्धी माया (तीव्रतम कपटाचार)- बांस की जड़ के समान कुटिल, २. अप्रत्याख्यानी माया (तीव्रतर कपटाचार)- भैंस के सींग के समान कुटिल, ३. प्रत्याख्यानी माया (तीव्र कपटाचार)- गोमूत्र की धारा के समान कुटिल, ४. संज्वलन माया (अल्प कपटाचार)- बांस के छिलके के समान कुटिल।

लोभ

मोहनीय-कर्म के उदय से चित्त में उत्पन्न होने वाली तृष्णा या लालसा लोभ कहलाती है। लोभ की सोलह अवस्थाएँ हैं[६]- **लोभ**- संग्रह करने की वृत्ति, २. **इच्छा**- अभिलाषा, ३. **मूर्च्छा**- तीव्र संग्रह-वृत्ति, ४. **कांक्षा**- प्राप्त करने की आशा, ५. **गृद्धि**- आसक्ति, ६. **तृष्णा**- जोड़ने की इच्छा, वितरण की विरोधी वृत्ति, ७. **मिथ्या**- विषयों का ध्यान, ८. **अभिध्या**- निश्चय से डिग जाना या चंचलता, ९. **आशंसना**- इष्ट-प्राप्ति की इच्छा करना, १०. **प्रार्थना**- अर्थ आदि की याचना, ११. **लोलपनता**- चाटुकारिता, १२. **कामाशा**- काम की इच्छा, १३. **भोगाशा**- भोग्य-पदार्थों की इच्छा, १४. **जीविताशा**- जीवन की कामना, १५. **मरणाशा**- मरने की कामना[७] और १६. **नन्दिराग**- प्राप्त सम्पत्ति में अनुराग।

लोभ के चार भेद- १. अनंतानुबन्धी लोभ-मजीठिया रंग के समान जो छूटे नहीं, अर्थात् अत्यधिक लोभ। २. अप्रत्याख्यानी लोभ- गाड़ी के पहिये के औंगन के समान मुश्किल से छूटने वाला लोभ। ३. प्रत्याख्यानी लोभ- कीचड़ के समान प्रयत्न करने पर छूट जाने वाला लोभ। ४. संज्वलन लोभ-हल्दी के समान शीघ्रता से दूर हो जाने वाला लोभ।

नोकषाय- नोकषाय शब्द दो शब्दों के योग से बना है नो+कषाय। जैन-दार्शनिकों ने 'नो' शब्द को साहचर्य के अर्थ में ग्रहण किया है।[८] इस प्रकार क्रोध, मान, माया और लोभ- इन प्रधान कषायों के सहचारी भावों अथवा उनकी सहयोगी मनोवृत्तियाँ जैन परिभाषा में नोकषाय कही जाती हैं।[९] जहाँ पाश्चात्य मनोविज्ञान में काम-वासना को प्रमुख मूलवृत्ति तथा भय को प्रमुख आवेग माना गया है, वहाँ जैनदर्शन में उन्हें सहचारी कषाय या उप-आवेग कहा गया है। इसका कारण यही हो सकता है कि जहाँ पाश्चात्य विचारकों ने उन पर मात्र मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विचार किया है, वहाँ जैन विचारणा में जो मानसिक तथ्य नैतिक दृष्टि से अधिक अशुभ थे, उन्हें कषाय कहा गया है और उनके सहचारी अथवा कारक मनोभाव को नोकषाय कहा गया है। यद्यपि मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विचार करने पर नोकषाय वे प्राथमिक स्थितियाँ हैं, जिनसे कषायें उत्पन्न होती हैं, तथापि आवेगों की तीव्रता की दृष्टि से नोकषाय कम तीव्र होते हैं और कषायें अधिक तीव्र होती हैं। इन्हें कषाय का कारण भी कहा जा सकता है। जैन-ग्रन्थों में इनकी संख्या ९ (नौ) मानी गई है—

१. **हास्य**-सुख या प्रसन्नता की अभिव्यक्ति हास्य है। जैन-विचारणा के अनुसार हास्य का कारण पूर्व-कर्म या वासना-संस्कार है। यह मान कषाय का कारण है।

२. **शोक**-इष्टवियोग और अनिष्टयोग से सामान्य व्यक्ति में जो मनोभाव जागृत होते हैं, वे शोक कहे जाते हैं।[१०] शोक चित्तवृत्ति की विकलता का द्योतक है[११] और इस प्रकार मानसिक समत्व का भंग करने वाला है। कभी-कभी यह क्रोध कषाय में रूपान्तरित हो जाता है।

३. **रति (रुचि)**- अभीष्ट पदार्थों पर प्रीतिभाव अथवा इन्द्रिय-विषयों में चित्त की अभिरतता ही रति है। इसके कारण ही आसक्ति एवं लोभ की भावनाएँ प्रबल होती हैं।

४. **अरति**- इन्द्रिय-विषयों में अरुचि ही अरति है। अरुचि का भाव ही विकसित होकर घृणा और द्वेष बनता है। राग और द्वेष तथा रुचि और अरुचि में प्रमुख अन्तर यही है कि राग और द्वेष मनस् की सक्रिय अवस्थाएँ हैं, जबकि रुचि और अरुचि निष्क्रिय अवस्थाएँ हैं। रति और अरति पूर्व कर्म-संस्कारजनित स्वाभाविक रुचि और अरुचि का भाव है।

५. **घृणा**- घृणा या जुगुप्सा अरुचि का ही विकसित रूप है। अरुचि और घृणा में केवल मात्रात्मक अन्तर ही है। अरुचि की अपेक्षा घृणा में विशेषता यह है कि अरुचि में पदार्थ-विशेष के भोग की अरुचि होती है, लेकिन उसकी उपस्थिति सह्य होती है, जबकि घृणा में उसका भोग और उसकी उपस्थिति दोनों ही असह्य होती है। अरुचि का विकसित रूप घृणा और घृणा का विकसित रूप द्वेष है।

६. **भय**- किसी वास्तविक या काल्पनिक तथ्य से आत्मरक्षा के निमित्त बच निकलने की प्रवृत्ति ही भय है। भय और घृणा में प्रमुख अन्तर यह है कि घृणा के मूल में द्वेष-भाव रहता है, जबकि भय में आत्म-रक्षण का भाव प्रबल होता है। घृणा क्रोध और द्वेष का एक रूप है, जबकि भय लोभ या राग की ही एक अवस्था है। जैनागमों में भय सात प्रकार का माना गया है, जैसे— (१) **इहलोक भय**-यहाँ लोक शब्द संसार के अर्थ में न होकर जाति के अर्थ में भी गृहीत है। स्वजाति के प्राणियों से अर्थात् मनुष्यों के लिए मनुष्यों से उत्पन्न होने वाला भय, (२) **परलोक भय**-अन्य जाति के प्राणियों से होने वाला भय, जैसे मनुष्यों के लिए पशुओं का भय, (३) **आदान भय**-धन की रक्षा के निमित्त चोर-डाकू आदि बाह्य कारणों से उत्पन्न भय, ४. **अकस्मात भय**- बाह्य निमित्त के अभाव में स्वकीय कल्पना से निर्मित भय या अकारण भय। भय का यह रूप मानसिक ही होता है, जिसे मनोविज्ञान में असामान्य भय कहते हैं। ५. **आजीविका भय**- आजीविका या धनोपार्जन के साधनों की समाप्ति (विच्छेद) का भय। कुछ ग्रन्थों में इसके स्थान पर वेदना-भय का उल्लेख है। रोग या पीड़ा का

भय वेदना भय है। ६. **मरण भय**- मृत्यु का भय; जैन और बौद्ध विचारणा में मरण-धर्मता का स्मरण तो नैतिक दृष्टि से आवश्यक है, लेकिन मरण भय (मरणाशा एवं जीविताशा) को नैतिक दृष्टि से अनुचित माना गया है। ७. **अश्लोक (अपयश) भय**- मान-प्रतिष्ठा को ठेस पहुँचने का भय।[१२]

७. **स्त्रीवेद**- स्त्रीत्व सम्बन्धी काम-वासना अर्थात् पुरुष से संभोग की इच्छा। जैन-विचारणा में लिंग और वेद में अन्तर किया गया है। लिंग आंगिक संरचना का प्रतीक है, जबकि वेद तत्सम्बन्धी वासनाओं की अवस्था है। यह आवश्यक नहीं है कि स्त्री-लिंग होने पर स्त्रीवेद हो ही। जैन-विचारणा के अनुसार लिंग (आंगिक रचना) का कारण नाम-कर्म है, जबकि वेद (वासना) का कारण चारित्रमोहनीय-कर्म है।

८. **पुरुषवेद**- पुरुषत्व सम्बन्धी काम वासना अर्थात् स्त्री-संभोग की इच्छा।

९. **नपुंसकवेद**- प्राणी में स्त्रीत्व सम्बन्धी और पुरुषत्व सम्बन्धी दोनों वासनाओं का होना नपुंसकवेद कहा जाता है। दोनों के संभोग की इच्छा ही नपुंसकवेद है।

जैन-विचारकों के अनुसार तीव्रता की दृष्टि से पुरुष की काम-वासना शीघ्र ही प्रदीप्त हो जाती है और शीघ्र ही शान्त हो जाती है। स्त्री की काम-वासना देर से प्रदीप्त होती है, लेकिन एक बार प्रदीप्त हो जाने पर काफी समय तक शान्त नहीं होती। नपुंसक की काम-वासना शीघ्र प्रदीप्त हो जाती है, लेकिन शान्त देर से होती है।[१३] इस प्रकार भय, शोक, घृणा, हास्य, रति, अरति और काम-विकार- ये उप-आवेग हैं। ये भी व्यक्ति के जीवन को बहुत प्रभावित करते हैं। क्रोध आदि की शक्ति तीव्र होती है, इसलिए वे आवेग हैं। ये व्यक्ति की शारीरिक और मानसिक स्थिति को प्रभावित करने के अतिरिक्त उसके आन्तरिक गुणों-सम्यक् दृष्टिकोण, आत्म-नियन्त्रण आदि को भी प्रभावित करते हैं। भय आदि उप-आवेग व्यक्ति के आन्तरिक गुणों को उतना प्रत्यक्षत: प्रभावित नहीं करते, जितना शारीरिक और मानसिक स्थिति को करते हैं। उनकी शक्ति अपेक्षाकृत क्षीण होती है, इसलिए वे उप-आवेग कहलाते हैं।[१४]

कषाय-जय- नैतिक एवं आध्यात्मिक प्रगति का आधार- जैन आचार-दर्शन के अनुसार उक्त १६ आवेगों (कषाय) और ९ उप-आवेगों (नो-कषाय) का सीधा सम्बन्ध व्यक्ति के चरित्र से है, नैतिक जीवन के लिए इन वासनाओं एवं आवेगों से ऊपर उठना आवश्यक है।

जब तक व्यक्ति इनसे ऊपर नहीं उठता है, वह नैतिक प्रगति नहीं कर सकता। गुणस्थान आरोहण में यह तथ्य स्पष्ट रूप से वर्णित है कि नैतिक विकास की किस अवस्था में कितनी कषायों का क्षय हो जाता है और कितनी शेष रहती हैं। नैतिकता की सर्वोच्च भूमिका समस्त कषायों के समाप्त होने पर ही प्राप्त होती है।

जैन-सूत्रों में इन चार प्रमुख कषायों को 'चंडाल चौकड़ी' कहा गया है। इनमें अनन्तानुबन्धी आदि जो विभाग हैं, उनको सदैव ध्यान में रखना चाहिए और हमेशा यह प्रयत्न करना चाहिए कि कषायों में तीव्रता न आये, क्योंकि अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ के होने पर साधक अनन्तकाल तक संसार परिभ्रमण करता है और सम्यग्दृष्टि नहीं बन पाता है। यह जन्म-मरण के रोग की असाध्यावस्था है। अप्रत्याख्यानी कषाय के होने पर साधक, श्रावक या गृहस्थ साधक के पद से गिर जाता है। यह साधक के आंशिक चारित्र का नाश कर देती है। यह विकारों की दुःसाध्यावस्था है। इसी प्रकार प्रत्याख्यानी कषाय की अवस्था में साधुत्व प्राप्त नहीं होता। इसे विकारों की प्रयत्न-साध्यावस्था कहा जा सकता है। साधक को अपने जीवन में उपर्युक्त तीनों प्रकार के कषायों को स्थान नहीं देना चाहिए, क्योंकि इससे उसकी साधना या चारित्र धर्म का नाश हो जाता है। इतना ही नहीं, साधन को अपने अन्दर संज्वलन कषाय को भी स्थान नहीं देना चाहिए, क्योंकि जब तक चित्त में सूक्ष्मतम क्रोध, मान, माया और लोभ रहते हैं, साधक अपने लक्ष्य-निर्वाण की प्राप्ति नहीं कर सकता। संक्षेप में, अनन्तानुबन्धी चौकड़ी या कषायों की तीव्रतम अवस्था यथार्थ दृष्टिकोण की उपलब्धि में बाधक है। अप्रत्याख्यानी चौकड़ी या कषायों की तीव्रतर अवस्था आत्म-नियन्त्रण में बाधक है। प्रत्याख्यानी चौकड़ी या कषायों की तीव्र अवस्था श्रमण जीवन में घातक है। इसी प्रकार संज्वलन चौकड़ी या अल्प-कषाय पूर्ण निष्काम या वीतराग जीवन की उपलब्धि में बाधक है। इसलिए साधक को सूक्ष्मतम कषायों को भी दूर करने का प्रयत्न करना चाहए, क्योंकि इनके होने पर उसकी साधना में पूर्णता नहीं आ सकती। दशवैकालिकसूत्र में कहा गया है कि आत्म-हित चाहने वाला साधक पाप की वृद्धि करने वाले क्रोध, मान, माया और लोभ- इन चार दोषों को पूर्णतया छोड़ दे।[१५] नैतिक जीवन की साधना करने वाला इनको क्यों छोड़ दे? इस तर्क के उत्तर में दशवैकालिकसूत्र में इनकी सामाजिक एवं वैयक्तिक सद्गुणों का घात करने वाली प्रकृति का भी विवेचन किया गया है— क्रोध प्रीति का, मान विनय (नम्रता) का, माया मित्रता का और लोभ सद्गुणों का नाश कर देता है।[१६] आचार्य हेमचन्द्र कहते हैं कि मान विनय, श्रुत, शील-सदाचार एवं त्रिवर्ग का घातक है। वह विवेकरूपी नेत्रों को नष्ट करके मनुष्य को अन्धा बना देता है। क्रोध जब उत्पन्न होता है तो प्रथम आग की तरह उसी को जलाता है, जिसमें वह उत्पन्न होता है। माया अविद्या और असत्य की जनक है और शीलरूपी वृक्ष को नष्ट करने में कुल्हाड़े के समान तथा अधोगति का कारण है। लोभ समस्त दोषों की उत्पत्ति की खान है, समस्त सद्गुणों को निगल जाने वाला राक्षस है, सारे दुःखों का मूल कारण और धर्म तथा काम-पुरुषार्थ का बाधक है।[१७] यहाँ पर विशेष द्रष्टव्य यह भी है कि कषायों में जहाँ क्रोध-मानादि को एक या अधिक सद्गुणों का विनाशक कहा गया है, वहाँ लोभ को सर्व सद्गुणों का विनाशक कहा गया है। लोभ सभी कषायों में निकृष्टतम इसलिए है कि वह रागात्मक है और राग या आसक्ति ही

समस्त असत् वृत्तियों की जनक है। आचार्य महाप्रज्ञ सामाजिक जीवन पर होने वाले कषायों के परिणामों की चर्चा करते हुए लिखते हैं कि "हमारे मतानुसार (सामाजिक) सम्बन्ध-शुद्धि की कसौटी है- ऋजुता, मृदुता, शान्ति और त्याग से समन्वित मनोवृत्ति। हर व्यक्ति में चार प्रकार की वृत्तियाँ (कषाय) होती हैं:- १. संग्रह, २. आवेश, ३. गर्व (बड़ा मानना) और ४. माया (छिपाना)। चार वृत्तियाँ और होती हैं। वे उक्त चार प्रवृत्तियों की प्रतिपक्षी हैं:- १. त्याग या विसर्जन, २. शान्ति, ३. समानता या मृदुता, ४. ऋजुता या स्पष्टता। ये दोनों प्रकार की प्रवृत्तियाँ वैयक्तिक हैं, इसलिए इन्हें अनैतिक और नैतिक नहीं कहा जा सकता इन्हें आध्यात्मिक (वैयक्तिक) दोष और गुण कहा जा सकता है। इन वृत्तियों के जो परिणाम समाज में संक्रान्त होते हैं, उन्हें अनैतिक और नैतिक कहा जा सकता है।"

कषाय की वृत्तियों के परिणाम

१. संग्रह (लोभ) की मनोवृत्ति के परिणाम-शोषण, अप्रामाणिकता, निरपेक्ष-व्यवहार, क्रूर-व्यवहार, विश्वासघात।

२. आवेश (क्रोध) की मनोवृत्ति के परिणाम-गाली-गलौज, युद्ध, आक्रमण, प्रहार, हत्या।

३. गर्व (अपने को बड़ा मानने) की मनोवृत्ति के परिणाम-घृणा, अमैत्रीपूर्ण व्यवहार, क्रूर-व्यवहार।

४. माया (छिपाने) की मनोवृत्ति के परिणाम-अविश्वास, अमैत्रीपूर्ण व्यवहार।

कषाय जय के परिणाम

१. त्याग (विसर्जन) की मनोवृत्ति के परिणाम-प्रामाणिकता, सापेक्ष व्यवहार, अशोषण।

२. शान्ति की मनोवृत्ति के परिणाम-वाक्-संयम, अनाक्रमण, समझौता, समन्वय।

३. समानता की मनोवृत्ति के परिणाम-सापेक्ष-व्यवहार, प्रेम, मृदु व्यवहार।

४. ऋजुता की मनोवृत्ति के परिणाम-मैत्रीपूर्ण व्यवहार, विश्वास।[१८]

अत: आवश्यक है कि सामाजिक जीवन की शुद्धि के लिए प्रथम प्रकार की वृत्तियों का त्याग कर जीवन में दूसरे प्रकार की प्रतिपक्षी वृत्तियों को स्थान दिया जाये। इस प्रकार वैयक्तिक और सामाजिक दोनों ही जीवन की दृष्टियों से कषाय-जय आवश्यक है। उत्तराध्ययनसूत्र में कहा है, क्रोध से आत्मा अधोगति को जाता है और मान से, माया से अच्छी गति (नैतिक विकास) का प्रतिरोध हो जाता है, लोभ से इस जन्म और अगले जन्म दोनों में ही भय प्राप्त होता है।[१९] जो व्यक्ति यश, पूजा या प्रतिष्ठा की

कामना करता है, मान और सम्मान की अपेक्षा करता है, वह व्यक्ति अपने मान की पूर्ति के लिए अनेक प्रकार के पाप-कर्म करता है और कपटाचार का प्रश्रय लेता है।[२०] दुष्पूर्य लोभ की पूर्ति में लगा हुआ व्यक्ति सदैव ही दु:ख उठाया करता है, अत: इन जन्म-मरण रूपी वृक्ष का सिंचन करने वाली कषायों का परित्याग कर देना चाहिए।

कषाय-जय कैसे?- प्रश्न यह है कि मानसिक आवेगों (कषायों) पर विजय कैसे प्राप्त की जाये? पहली बात यह कि तीव्र कषायोदय में तो विवेक-बुद्धि प्रसुप्त ही हो जाती है, अत: विवेक-बुद्धि से कषायों का निग्रहण सम्भव नहीं रह जाता। दूसरे इच्छापूर्वक भी उनका निरोध सम्भव नहीं, क्योंकि इच्छा तो स्वत: उनसे ही शासित होने लगी है। पाश्चात्य दार्शनिक स्पीनोजा (Spinoza) के अनुसार आवेगों का नियंत्रण संकल्पों से भी संभव नहीं, क्योंकि संकल्प तो आवेगात्मक स्वभाव के आधार पर ही बनते हैं और उसके ही एक अंग होते हैं।[२१] तीसरे, आवेगों का निरोध भी मानसिक स्वास्थ्य की दृष्टि से अहितकर माना गया है और उनकी किसी न किसी रूप में अभिव्यक्ति आवश्यक मानी गयी है। तीव्र आवेगों के निरोध के लिए तो एक ही मार्ग है कि उन्हें उनके विरोधी आवेगों द्वारा शिथिल किया जाये। स्पीनोजा की मान्यता यही है कि कोई भी आवेग अपने विरोधी और अधिक शक्तिशाली आवेग के द्वारा ही नियंत्रित या समाप्त किया जा सकता है।[२२] जैन एवं अन्य भारतीय चिन्तकों ने भी इस सम्बन्ध में यही दृष्टिकोण अपनाया है। दशवैकालिकसूत्र में कहा गया है कि शान्ति से क्रोध को, मृदुता से मान को, सरलता से माया को और सन्तोष से लोभ को जीतना चाहिए।[२३] आचार्य कुन्दकुन्द तथा आचार्य हेमचन्द्र भी यही कहते हैं।[२४] धम्मपद में कहा है कि अक्रोध से क्रोध को, साधुता से असाधुता को जीतें तथा कृपणता को दान से और मिथ्या भाषण को सत्य से पराजित करें।[२५] महाभारत में भी लगभग इन्हीं शब्दों में इन वृत्तियों के ऊपर विजय प्राप्त करने का निर्देश है।[२६] महाभारत और धम्मपद का यह शब्द-साम्य और दशवैकालिक एवं धम्मपद का यह विचार-साम्य बड़ा महत्त्वपूर्ण है।

वस्तुत: कषाय ही आत्म-विकास में बाधक है। कषायों का नष्ट हो जाना ही भव-भ्रमण का अंत है। एक जैनाचार्य का कथन है 'कषायमुक्ति: किल मुक्तिरेव'- कषायों से मुक्त होना ही वास्तविक मुक्ति है। आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि साधक को हमेशा यही विचार करना चाहिए कि मैं न तो क्रोध हूँ, न मान, न माया, न लोभ ही हूँ अर्थात् ये मेरी आत्मा के गुण नहीं हैं। अतएव मैं न तो इनको करता हूँ, न करवाता हूँ और न करने वालों का अनुमोदन (समर्थन) करता हूँ।[२७]

इस प्रकार कषायों को विकृति समझकर साधक शुद्ध आत्म-स्वरूप का चिन्तन करते हुए इनसे दूर होकर शीघ्र निर्वाण प्राप्त कर लेता है, क्योंकि इन चारों दोषों का त्याग कर देने वाला पाप नहीं कर सकता है। सूत्रकृतांग में कहा गया है कि क्रोध, मान, माया और लोभ—इन चार महादोषों को छोड़ देने वाला महर्षि न तो पाप करता

है, न करवाता है।[२८] कषाय-जय से जीवनमुक्ति को प्राप्त कर वह निष्काम जीवन जीता है।

बौद्धदर्शन और कषाय-जय— धम्मपद में कषाय शब्द का प्रयोग दो अर्थों में हुआ है। एक तो उसका जैन-परम्परा के समान दूषित चित्तवृत्ति के अर्थ में और दूसरे संन्यस्त जीवन के प्रतीक गेरूए वस्त्रों के अर्थ में। तथागत कहते हैं- 'जो व्यक्ति (रागद्वेषादि) कषायों को छोड़े बिना कषाय वस्त्रों (गेरूए कपड़ों) को अर्थात् संन्यास धारण करता है वह संयम के यथार्थ स्वरूप से पतित व्यक्ति कषाय-वस्त्रों (संन्यास मार्ग) का अधिकारी नहीं है। लेकिन जिसने कषायों (दूषित चित्तवृत्तियों) को वमित कर दिया (तज दिया) है, वह संयम के यथार्थ स्वरूप से युक्त व्यक्ति काषाय-वस्त्रों (संन्यास मार्ग) का अधिकारी है'।[२९] बौद्ध-विचार में कषाय शब्द के अन्तर्गत कौन-कौन दूषित वृत्तियाँ आती हैं, इसका स्पष्ट उल्लेख हमें नहीं मिलता । क्रोध, मान, माया, लोभ को बौद्ध-विचारणा में दूषित चित्त-वृत्ति के रूप में ही माना गया है और नैतिक आदर्श की उपलब्धि के लिए उनके परित्याग का निर्देश है। बुद्ध कहते हैं कि क्रोध को छोड़ दो और अभिमान का त्याग कर दो; समस्त संयोजनों को तोड़ दो, जो पुरुष नाम तथा रूप में आसक्त नहीं होता, लोभ नहीं करता, जो अकिंचन है, उस पर क्लेशों का आक्रमण नहीं होता। जो उठते हुए क्रोध को उसी तरह निग्रहित कर लेता है, जैसे सारथी घोड़े को; वही सच्चा सारथी है (नैतिक जीवन का सच्चा साधक है), शेष सब तो मात्र लगाम पकड़ने वाले हैं। भिक्षुओं! लोभ, द्वेष और मोह पापचित्त वाले मनुष्य को अपने भीतर ही उत्पन्न होकर नष्ट कर देते हैं जैसे केले के पेड़ को उसी का फल (केला)।[३०] मायावी मर कर नरक में उत्पन्न हो दुर्गति को प्राप्त होता है।[३१] सुत्तनिपात में कहा गया है कि जो मनुष्य जाति, धन और गोत्र का अभिमान करता है और अपने बन्धुओंका अपमान करता है, वह उसके पराभव का कारण है।[३२] जो क्रोध करता है, वैरी है तथा जो मायावी है उसे वृषल (नीच) जानो।[३३] इस प्रकार बौद्धदर्शन इन अशुभ-चित्त वृत्तियों का निषेध कर साधक को इनसे ऊपर उठने का संदेश देता है।

गीता और कषाय-निरोध—यद्यपि गीता में कषायों का ऐसा चतुर्विध वर्गीकरण तो नहीं, मिलता, तथापि कषायों के रूप में जिन अशुभ मनोवृत्तियों का चित्रण जैनागमों में है, उन सभी अशुभ मनोवृत्तियों के अर्थ में प्रयोग विरल ही हुआ हैं। छान्दोग्य उपनिषद् में कषाय शब्द राग-द्वेष के अर्थ में व्यवहृत हुआ है।[३४] महाभारत के शान्तिपर्व में भी कषाय शब्द का प्रयोग अशुभ मनोवृत्तियों के अर्थ में हुआ है। वहाँ कहा गया है कि मनुष्य-जीवन की तीन सीढ़ियों अर्थात् ब्रह्मचर्य, गृहस्थ एवं वानप्रस्थ-आश्रम में कषायों को विजित कर फिर संन्यास का अनुसरण करें।[३५] गीता में कषाय शब्द का प्रयोग नहीं है। फिर भी गीता में कषाय-वृत्तियों का विवेचन है। गीता कहती है कि 'दम्भ, दर्प,मान, क्रोध आदि आसुरी सम्पदा हैं।[३६] अहंकार, बल, दर्प (मान), काम (लोभ) और क्रोध

के आश्रित होकर मनुष्य अपने और दूसरों के शरीर में स्थित परमात्मा (आत्मा) से द्वेष करने वाले होते हैं।[३७] अर्थात् मान, क्रोध, लोभ आदि विकारों के वशीभूत होकर आत्मा के यथार्थ स्वरूप को नहीं जान पाते हैं। यह काम, क्रोध और लोभ आत्मा का नाश करने वाले (आत्मा को विकारी बनाकर उसके स्व-लक्षणों को आवरित करने वाले) नरक के द्वार हैं। अत: इन तीनों का त्याग कर देना चाहिए। जो इन नरक के द्वारों से मुक्त होकर अपने कल्याण-मार्ग का आचरण करता है, वह परमगति को प्राप्त करता है।[३८]

इस प्रकार क्रोध, मान और लोभ- इन तीन कषायों का विवेचन हमें गीता में मिल जाता है। गीता में माया शब्द का प्रयोग तो हुआ है, लेकिन जिस निम्न-स्तरीय कपट-वृत्ति के अर्थ में जैन दर्शन में उसका प्रयोग किया गया है, उस अर्थ में उसका प्रयोग नहीं हुआ है। वहाँ तो वह दैवी माया (७/१४) है, फिर भी वह नैतिक विकास में बाधक अवश्य मानी गयी है। गीता में कृष्ण कहते हैं कि माया के द्वारा जिनके ज्ञान का अपहरण हो गया है, ऐसे आसुरी स्वभाव से युक्त, दूषित कर्मों का आचरण करने वाले, मनुष्यों में नीच, मूर्ख मुझ परमात्मा को प्राप्त नहीं होते।[३९]

सारांश यह है कि मनोवृत्तियों के चारों रूप, जिन्हें जैन विचारणा कषाय कहती है, गीता में भी निकृष्ट माने गये हैं और नैतिक एवं आध्यात्मिक विकास के लिए इनका परित्याग करना आवश्यक है। गीताकार की दृष्टि में जो मनुष्य इस शरीर के नाश होने के पहले ही काम और क्रोध से उत्पन्न आवेगों (संवेगों) को सहन करने में समर्थ हैं अर्थात् जो काम एवं क्रोध की भावनाओं से ऊपर उठ गया है, वही योगी है और वही सुखी है। काम-क्रोधादि (कषाय-वृत्तियों से रहित, विजित-चित्त एवं विकार रहित आत्मा के यथार्थ स्वरूप को जानने वाला ज्ञानी पुरुष सभी ओर से ब्रह्म-निर्वाण में ही निवास करता है अर्थात् जीवनमुक्त हो जाता है।[४०]

इस प्रकार हम देखते हैं कि बौद्ध और गीता के आचार-दर्शनों में भी जैनदर्शन के समान क्रोध (आवेश), मान (अहंकार), माया (छिपाने की वृत्ति) और लोभ (संग्रह-वृत्ति) आदि आवेगों को वैयक्तिक आध्यात्मिक विकास एवं सामाजिक सम्बन्धों की शुद्धि की दृष्टि से अनुचित माना गया है। यदि व्यक्ति इन आवेगात्मक मनोवृत्तियों को अपने जीवन में स्थान देता है तो एक ओर वैयक्तिक दृष्टि से वह अपने आध्यात्मिक विकास को अवरुद्ध करता है और यथार्थ बोध से वंचित रहता है, दूसरी ओर उसकी इन वृत्तियों के परिणाम सामाजिक जीवन में संक्रान्त होकर क्रमश: संघर्ष (युद्ध), शोषण, घृणा (ऊँच-नीच का भाव) और अविश्वास को उत्पन्न करते हैं जिसके परिणामस्वरूप सामाजिक जीवन-व्यवस्था अस्त-व्यस्त हो जाती है अत: वैयक्तिक-आध्यात्मिक विकास और सामञ्जस्यपूर्ण सामाजिक जीवन प्रणाली के लिए आवेगात्मक मनोवृत्तियों का त्याग आवश्यक है और इनके स्थान पर इनकी प्रतिपक्षी शान्ति, समानता, सरलता

(विश्वसनीयता) और विसर्जन (त्याग) की मनोवृत्तियों को जीवन में स्थान देना चाहिए ताकि वैयक्तिक एवं सामाजिक जीवन का विकास हो सके।

व्यक्ति जैसे-जैसे इन आवेगात्मक मनोवृत्तियों से ऊपर उठता है, वैसे-वैसे उसका व्यक्तित्व परिपक्व बनता जाता है और जब इन आवेगात्मक मनोभावों से पूर्णतया ऊपर उठ जाता है, तब वीतराग, अर्हत् या जीवनमुक्त अवस्था को प्राप्त कर लेता है, जो कि नैतिक जीवन का साध्य है। आधुनिक मनोविज्ञान की दृष्टि से इसे परिपक्व व्यक्ति (Matured Personality) की अवस्था कहा जा सकता है।

कषाय एवं हमारा व्यक्तित्व— हमारे व्यक्तित्व का सीधा सम्बन्ध हमारे कषाय सम्बन्धी आवेगों से है। इन आवेगों की जितनी अधिक तीव्रता होगी, व्यक्तित्व में उतनी ही अधिक अस्थिरता होगी। व्यक्ति जितना कषायों या आवेगों से ऊपर उठेगा, उसके व्यक्तित्व में स्थिरता एवं परिपक्वता आती जायेगी। इसी प्रकार व्यक्ति में वासनात्मक आवेगों (कषायों) की जितनी अधिकता होगी, नैतिक दृष्टि से उसका व्यक्तित्व उतना ही निम्नस्तरीय होगा। आवेगों (मनोवृत्तियों) की तीव्रता और उनकी अशुभता दोनों ही व्यक्तित्व को प्रभावित करती हैं। वस्तुत: आवेगों में जितनी अधिक तीव्रता होगी, उतनी व्यक्तित्व में अस्थिरता होगी और व्यक्तित्व में जितनी अधिक अस्थिरता होगी उतनी ही अनैतिकता होगी। आवेगात्मक अस्थिरता अनैतिकता की जननी है। इस प्रकार आवेगात्मकता, नैतिकता और व्यक्तित्व तीनों ही एक-दूसरे से जुड़े हैं। यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि व्यक्ति के सन्दर्भ में न केवल आवेगों की तीव्रता पर विचार करना चाहिए वरन् उनकी प्रशस्तता और अप्रशस्तता पर भी विचार करना आवश्यक है। प्राचीन काल से ही व्यक्ति के आवेगों तथा मनोभावों के शुभत्व एवं अशुभत्व का सम्बन्ध हमारे व्यक्तित्व से जोड़ा गया है। आचार दर्शन में व्यक्तित्व के वर्गीकरण या श्रेणी-विभाजन का आधार व्यक्ति की प्रशस्त और अप्रशस्त मनोवृत्तियाँ ही हैं।

सन्दर्भ :

१. विशेषावश्यकभाष्य- २६६८-२६७१।

२. तुम अनन्तशक्ति के स्रोत हो, पृ० ४७।

३. अभिधानराजेन्द्र कोश, खण्ड ३, पृ० ३९५।

४. भगवतीसूत्र, १२/५/२।

५. अंगुतरनिकाय, ३/१३०।

६. भगवतीसूत्र, १५/५/५।

७. तुलना कीजिए- जीवनवृत्ति और मृत्युवृत्ति (फ्रायड)।

८. अभिधानराजेन्द्रकोश, खण्ड ७, पृ० ११५७।

९. वही, खण्ड ६, पृ० ४६७।

१०-११. वही, खण्ड ४, पृ० २१६१।

१२. अभिधानराजेन्द्रकोश, श्रमणआवश्यकसूत्र-भयसूत्र, खण्ड ७, पृ० ११५७।

१३. जैन साइकोलॉजी, पृ० १३१-१३४।

१४. तुम अनन्त शक्ति के स्रोत हो, पृ० ४७।

१५. दशवैकालिक, ८/३६।

१६. वही, ८/३७।

१७. योगशास्त्र, ४/१०-१८।

१८. नैतिकता का गुरुत्वाकर्षण, पृ० २।

१९. उत्तराध्ययन, ९/५४।

२०. दशवैकालिक, ५/२/३५।

२१. स्पीनोजा इन दी लाईट ऑफ वेदान्त, पृ० २६६।

२२. स्पीनोजा नीति, ४/७।

२३. दशवैकालिक, ८/३९।

२४. (अ) नियमसार, ११५।
(ब) योगशास्त्र ८/२३।

२५. धम्मपद, १/१६।

२६. महाभारत, उद्योगपर्व, उद्धृत-धम्मपद, भूमिका, पृष्ठ ९.

२७. नियमसार, ८१.

२८. सूत्रकृतांग, १/४/१२-१३.

२९. धम्मपद, ९-१०।

३०. संयुक्तनिकाय, ३/३/३।

३१. वही, ४०/१३/१।

३२. सुत्तनिपात, ७/१।

३३. वही, ६/१४।

३४. छान्दोग्योपनिषद्, ७/२६/२।

३५. महाभारत शांतिपर्व, २४४/३।

३६. गीता, १६/४।

३७. वही, १६/४।

३८. वही, १६/२१-२४।

३९. वही, ७/१५।

४०. वही, ५/२३।

स्वाध्याय की मणियाँ

जैन-साधना का लक्ष्य समभाव (सामायिक) की उपलब्धि है और समभाव की उपलब्धि हेतु स्वाध्याय और सत्साहित्य का अध्ययन आवश्यक है। सत्साहित्य का स्वाध्याय मनुष्य का ऐसा मित्र है, जो अनुकूल एवं प्रतिकूल दोनों स्थितियों में उसका साथ निभाता है और साथ ही उसका मार्गदर्शन कर उसके मानसिक विक्षोभों एवं तनावों को भी समाप्त करता है। ऐसे साहित्य के स्वाध्याय से व्यक्ति को सदैव ही आत्मतोष और आध्यात्मिक आनन्द की अनुभूति होती है; मानसिक तनावों से मुक्ति मिलती है। यह मानसिक शान्ति का अमोघ उपाय है।

स्वाध्याय का महत्त्व

सत्साहित्य के स्वाध्याय का महत्त्व अति प्राचीन काल से ही स्वीकृत रहा है। औपनिषदिक् चिन्तन में जब शिष्य अपनी शिक्षा पूर्ण करके गुरु के आश्रम से विदाई लेता था तो उसे दी जाने वाली अन्तिम शिक्षाओं में एक शिक्षा होती थी — 'स्वाध्यायान् मा प्रमदः' अर्थात् स्वाध्याय में प्रमाद मत करना। स्वाध्याय एक ऐसी वस्तु है जो गुरु की अनुपस्थिति में भी गुरु का कार्य करती है। स्वाध्याय से हम कोई-न-कोई मार्गदर्शन प्राप्त कर ही लेते हैं। महात्मा गांधी कहा करते थे कि "जब भी मैं किसी कठिनाई में होता हूँ, मेरे सामने कोई जटिल समस्या होती है, जिसका निदान मुझे स्पष्ट रूप से प्रतीत नहीं होता है, मैं गीता-माता की गोद में चला जाता हूँ, वहाँ मुझे कोई-न-कोई समाधान अवश्य मिल जाता है।" यह सत्य है कि व्यक्ति कितने ही तनाव में क्यों न हो अगर वह ईमानदारी से सद्-ग्रन्थों का स्वाध्याय करता है, तो उसे अपनी पीड़ा से मुक्ति का मार्ग अवश्य ही दिखाई देता है।

जैन परम्परा में जिसे मुक्ति कहा गया है, वह वस्तुतः राग-द्वेष से मुक्ति है, मानसिक तनावों से मुक्ति है और ऐसी मुक्ति के लिए पूर्व कर्म-संस्कारों का निर्जरण या क्षय आवश्यक माना गया है। निर्जरा का अर्थ है — मानसिक ग्रन्थियों को जर्जरित करना अर्थात् मन की राग-द्वेष, अहङ्कार आदि की गाँठों को खोलना। इसे ग्रन्थि भेद करना भी कहते हैं। निर्जरा एक साधना है। वस्तुतः वह तप की ही साधना है। जैन परम्परा में तप-साधना के जो १२ भेद माने गये हैं; उनमें स्वाध्याय की गणना आन्तरिक तप के अन्तर्गत होती है। इस प्रकार स्वाध्याय मुक्ति का मार्ग है। जैन-साधना का एक

आवश्यक अंग है।

उत्तराध्ययनसूत्र में स्वाध्याय को आन्तरिक तप का एक प्रकार बताते हुए उसके पाँचों अंगों एवं उनकी उपलब्धियों की विस्तार से चर्चा की गई है। बृहत्कल्पभाष्य में स्पष्ट रूप से यह कहा गया है कि — **'नवि अत्थि न वि अ होही, सज्झाय समं तपो कम्म'** अर्थात् स्वाध्याय के समान दूसरा तप न अतीत में कोई था, न वर्तमान में कोई है और न भविष्य में कोई होगा। इस प्रकार जैन परम्परा में स्वाध्याय को आध्यात्मिक साधना के क्षेत्र में विशेष महत्त्व दिया गया है। उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है कि स्वाध्याय से ज्ञान का प्रकाश प्राप्त होता है जिससे समस्त दुःखों का क्षय हो जाता है। वस्तुतः स्वाध्याय ज्ञान प्राप्ति का एक महत्त्वपूर्ण उपाय है। कहा भी है—

नाणस्स सव्वस्स पगासणाए
अन्नाण-मोहस्स विवज्जणाए।
रागस्स दोसस्स य संखएणं
एगन्तसोक्खं समुवेइ मोक्खं।।
तस्सेस मग्गो गुरु-विद्धसेवा
विवज्जणा बालजणस्स दूरा।
सज्झाय-एगन्तनिसेवणा य
सुत्तऽत्थसंचिन्तणया धिई य।।

— उत्त०, ३२/२-३.

अर्थात् सम्पूर्ण ज्ञान के प्रकाशन से, अज्ञान और मोह के परिहार से, राग-द्वेष के पूर्ण क्षय से-जीव एकान्त सुख-रूप मोक्ष को प्राप्त करता है।

गुरुजनों और वृद्धों की सेवा करना, अज्ञानी लोगों के सम्पर्क से दूर रहना, सूत्र और अर्थ का चिन्तन करना, स्वाध्याय करना और धैर्य रखना - यह दुःखों से मुक्ति का उपाय है।

स्वाध्याय का अर्थ

"स्वाध्याय" शब्द का सामान्य अर्थ है — स्व का अध्ययन। वाचस्पत्यम् में स्वाध्याय शब्द की व्याख्या दो प्रकार से की गयी है — (१) स्व+अधि+ईण्, जिसका तात्पर्य है कि स्व का अध्ययन करना। दूसरे शब्दों में— स्वाध्याय आत्मानुभूति है, अपने अन्दर झांक कर अपने आप को देखना है। वह स्वयं अपना अध्ययन है। मेरी दृष्टि में अपने विचारों, वासनाओं व अनुभूतियों को जानने व समझने का प्रयत्न ही स्वाध्याय है। वस्तुतः वह अपनी आत्मा का अध्ययन ही है, आत्मा के दर्पण में अपने को देखना है। जब तक स्व का अध्ययन नहीं होगा, व्यक्ति अपनी वासनाओं एवं विकारों

का द्रष्टा नहीं बनेगा, तब तक वह उन्हें दूर करने का प्रयत्न नहीं करेगा और जब तक वे दूर नहीं होंगे, तब तक आध्यात्मिक पवित्रता या आत्म-विशुद्धि सम्भव नहीं होगी। आत्म-विशुद्धि के बिना मुक्ति असम्भव है। यह एक सुस्पष्ट तथ्य है कि जो गृहिणी अपने घर की गन्दगी को देख पाती है, वह उसे दूर कर घर को स्वच्छ भी रख सकती है। इसी प्रकार जो व्यक्ति अपनी मनोदैहिक विकृतियों को जान लेता है और उनके कारणों का निदान कर लेता है, वही सुयोग्य वैद्य के परामर्श से उनकी योग्य चिकित्सा करके अन्त में स्वास्थ्य लाभ करता है। यही बात हमारी आध्यात्मिक विकृतियों को दूर करने की प्रक्रिया में भी लागू होती है। जो व्यक्ति स्वयं अपने अन्दर झाँककर अपनी चैतसिक विकृतियों अर्थात् कषायों को जान लेता है, वही योग्य गुरु के सान्निध्य में उनका निराकरण करके आध्यात्मिक विशुद्धता को प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार स्वाध्याय अर्थात् स्व का अध्ययन, आत्म-विशुद्धि की एक अनुपम साधना सिद्ध होती है। हमें स्मरण रखना होगा स्वाध्याय का मूल अर्थ तो अपना अध्ययन ही है, स्वयं में झाँकना है। स्वयं को जानने और पहचानने की वृत्ति के अभाव से सूत्रों या ग्रन्थों के अध्ययन का कोई भी लाभ नहीं होता। अन्तर्चक्षु के उन्मीलन के बिना ज्ञान का प्रकाश सार्थक नहीं बन पाता है। कहा भी है —

सुबहुंपि सुयमहीयं, किं काही? चरणविप्पहीणस्स।
अंधस्स जह पलित्ता, दीवसयसहस्सकोडिवि।।
अप्पंपि सुयमहीयं, पयासयं होई चरणजुत्तस्स।
इक्कोऽवि जह पईवो, सचक्खुअस्सा पयासेइ।।

— आवश्यकनिर्युक्ति, ९८-९९

अर्थात् जैसे अन्धे व्यक्ति के लिए करोड़ों दीपकों का प्रकाश भी व्यर्थ है; किन्तु आँख वाले व्यक्ति के लिए एक भी दीपक का प्रकाश सार्थक होता है। उसी प्रकार जिसके अन्तर्चक्षु खुल गये हैं, जिसकी अन्तर्यात्रा प्रारम्भ हो चुकी है, ऐसे आध्यात्मिक साधक के लिए स्वल्प अध्ययन भी लाभप्रद होता है, अन्यथा आत्म-विस्मृत व्यक्ति के लिए करोड़ों पदों का ज्ञान भी निरर्थक है। स्वाध्याय में अन्तश्चक्षु का खुलना — आत्म-द्रष्टा बनना, स्वयं में झाँकना पहली शर्त है, शास्त्र का पढ़ना या अध्ययन करना उसका दूसरा चरण है।

स्वाध्याय शब्द की दूसरी व्याख्या सु+आ+अधि+ईड — इस रूप में भी की गयी है। इस दृष्टि से स्वाध्याय की परिभाषा होती है 'शोभनोऽध्यायः स्वाध्यायः' अर्थात् सत्साहित्य का अध्ययन करना ही स्वाध्याय है। स्वाध्याय की इन दोनों परिभाषाओं के आधार पर एक बात जो उभर कर सामने आती है वह यह कि सभी प्रकार का पठन-पाठन स्वाध्याय नहीं है। आत्म-विशुद्धि के लिए किया गया अपनी स्वकीय

वृत्तियों, भावनाओं व वासनाओं अथवा विचारों का अध्ययन या निरीक्षण तथा ऐसे सद्ग्रन्थों का पठन-पाठन, जो हमारी चैतसिक विकृतियों को समझने और उन्हें दूर करने में सहायक हों, ही स्वाध्याय के अन्तर्गत आते हैं। विषय-वासनावर्द्धक, भोगाकांक्षाओं को उदीप्त करने वाले, चित्त को विचलित करने वाले और आध्यात्मिक शान्ति और समता को भंग करने वाले साहित्य का अध्ययन स्वाध्याय की कोटि में नहीं आता है। उन्हीं ग्रन्थों का अध्ययन स्वाध्याय की कोटि में आता है जिनसे चित्तवृत्तियों की चञ्चलता कम होती हो, मन प्रशान्त होता हो और जीवन में सन्तोष की वृत्ति विकसित होती हो।

स्वाध्याय का स्वरूप

स्वाध्याय के अन्तर्गत कौन-सी प्रवृत्तियाँ आती हैं, इनका विश्लेषण जैन परम्परा में विस्तार से किया गया है। स्वाध्याय के पाँच अंग माने गए हैं — १. वाचना, २. प्रतिप्रच्छना, ३. परावर्तना, ४. अनुप्रेक्षा और ५. धर्मकथा।

१. गुरु के सान्निध्य में सद्ग्रन्थों का अध्ययन करना वाचना है। वर्तमान सन्दर्भ में हम किसी सद्ग्रन्थ के पठन-पाठन एवं अध्ययन को वाचना के अर्थ में गृहीत कर सकते हैं।

२. प्रतिप्रच्छना का अर्थ है पठित या पढ़े जाने वाले ग्रन्थ के अर्थबोध में सन्देह आदि की निवृत्ति हेतु जिज्ञासावृत्ति से या विषय के स्पष्टीकरण निमित्त प्रश्न-उत्तर करना।

३. पूर्व पठित ग्रन्थ की पुनरावृत्ति या पारायण करना, परावर्तना है।

४. पूर्व पठित विषय के सन्दर्भ में चिन्तन-मनन करना अनुप्रेक्षा है।

५. इसी प्रकार अध्ययन के माध्यम से जो ज्ञान प्राप्त हुआ है, उसे दूसरों को प्रदान करना या धर्मोपदेश देना धर्मकथा है।

यहाँ यह भी स्मरण रखना है कि स्वाध्याय के क्षेत्र में इन पाँचों अवस्थाओं का एक क्रम है। इनमें प्रथम स्थान वाचना का है। अध्ययन किए गये विषय के स्पष्ट बोध के लिए प्रश्नोत्तर के माध्यम से शंका का निवारण करना— इसका क्रम दूसरा है; क्योंकि जब तक अध्ययन नहीं होगा, तब तक शंका आदि नहीं होंगे। अध्ययन किए गए विषय के स्थिरीकरण के लिए उसका पारायण आवश्यक है। इससे एक ओर स्मृति सुदृढ़ होती है तो दूसरी ओर क्रमशः अर्थबोध में स्पष्टता का विकास होता है। इसके पश्चात् अनुप्रेच्छा या चिन्तन का क्रम आता है। चिन्तन के माध्यम से व्यक्ति पठित विषय को न केवल स्थिर करता है, अपितु वह उसके अर्थबोध की गहराई में जाकर स्वतः की अनुभूति के स्तर पर उसे समझने का प्रयत्न करता है। इस प्रकार चिन्तन एवं मनन

द्वारा जब विषय स्पष्ट हो जाता, तब व्यक्ति को धर्मोपदेश या अध्ययन का अधिकार मिलता है।

स्वाध्याय के लाभ

उत्तराध्ययनसूत्र में यह प्रश्न उपस्थित किया गया है कि स्वाध्याय से जीव को क्या लाभ है? इसके उत्तर में कहा गया है कि स्वाध्याय से ज्ञानावरणकर्म का क्षय होता है। दूसरे शब्दों में आत्मा मिथ्याज्ञान का आचरण दूर कर सम्यक्-ज्ञान का अर्जन करता है। स्वाध्याय के इस सामान्य लाभ की चर्चा के साथ उत्तराध्ययनसूत्र में स्वाध्याय के पाँचों अंगों — वाचना, प्रतिप्रच्छना, धर्मकथा आदि के अपने-अपने क्या लाभ होते हैं— इसकी भी चर्चा की गयी है, जो निम्न रूप में पायी जाती है —

भन्ते! वाचना (अध्ययन-अध्यापन) से जीव को क्या प्राप्त होता है?

वाचना से जीव कर्मों की निर्जरा करता है, श्रुतज्ञान की आशातना के दोष से दूर रहने वाला वह तीर्थ-धर्म का अवलम्बन करता है — गणधरों के समान जिज्ञासु शिष्यों को श्रुत प्रदान करता है। तीर्थ-धर्म का अवलम्बन लेकर कर्मों की महानिर्जरा करता है और महापर्यवसान (संसार का अन्त) करता है।

भन्ते! प्रतिप्रच्छना से जीव को क्या प्राप्त होता है?

प्रतिप्रच्छना (पूर्वपठित शास्त्र के सम्बन्ध में शंकानिवृत्ति के लिए प्रश्न करना) से जीव सूत्र, अर्थ और तदुभय — दोनों से सम्बन्धित कांक्षामोहनीय (संशय) का निराकरण करता है।

भन्ते! परावर्तना से जीव को क्या प्राप्त होता है?

परावर्तना से अर्थात् पठित पाठ के पुनरावर्तन से व्यंजन (शब्द-पाठ) स्थिर होता है और जीव पदानुसारिता आदि व्यंजना-लब्धि को प्राप्त होता है।

भन्ते! अनुप्रेक्षा से जीव को क्या प्राप्त होता है?

अनुप्रेक्षा से अर्थात् सूत्रार्थ के चिन्तन-मनन से जीव आयुष्य-कर्म को छोड़कर शेष ज्ञानावरणादि सात कर्मों की प्रकृतियों के प्रगाढ़ बन्धन को शिथिल करता है, उनकी दीर्घकालीन स्थिति को अल्पकालीन करता है, उनके तीव्र रसानुभाव को मन्द करता है, साथ ही बहुकर्म-प्रदेशों को अल्प-प्रदेशों में परिवर्तित करता है, आयुष्यकर्म का बन्ध कदाचित् करता है, कदाचित् नहीं भी करता है, असातावेदनीय-कर्म का पुनः पुनः उपचय नहीं करता है, संसार अटवी अनादि एवं अनन्त है, दीर्घमार्ग से युक्त है, जिसके नरकादि गतिरूप चार अन्त (अवयव) हैं, उसे शीघ्र ही पार करता है।

भन्ते! धर्मकथा (धर्मोपदेश) से जीव को क्या प्राप्त होता है?

धर्मकथा से जीव कर्मों की निर्जरा करता है और प्रवचन (शासन एवं सिद्धान्त) की प्रभावना करता है। प्रवचन की प्रभावना करने वाला जीव भविष्य में शुभ फल देने वाले पुण्य कर्मों का बन्ध करता है।

इसी प्रकार स्थानाङ्गसूत्र में भी शास्त्राध्ययन के क्या लाभ हैं? इसकी चर्चा उपलब्ध होती है। इसमें कहा गया है कि सूत्र की वाचना के ५ लाभ हैं — १. वाचना से श्रुत का संग्रह होता है अर्थात् यदि अध्ययन का क्रम बना रहे तो ज्ञान की वह परम्परा अविच्छिन्न रूप से चलती रहती है। २. शास्त्राध्ययन-अध्यापन की प्रवृत्ति से शिष्य का हित होता है, क्योंकि वह उसके ज्ञान प्राप्ति का महत्त्वपूर्ण साधन है। ३. शास्त्राध्ययन अध्यापन की प्रवृत्ति बनी रहने से ज्ञानावरण-कर्म की निर्जरा होती है, अर्थात् अज्ञान का नाश होता है। ४. अध्ययन-अध्यापन की प्रवृत्ति के जीवित रहने से उसके विस्मृत होने की सम्भावना नहीं रहती है। ५. जब श्रुत स्थिर रहता है तो उसकी अविच्छिन्न परम्परा चलती रहती है।

स्वाध्याय का प्रयोजन

स्थानाङ्गसूत्र में स्वाध्याय क्यों करना चाहिए इसकी चर्चा उपलब्ध होती है। इसमें यह बताया गया है कि स्वाध्याय के निम्न पाँच प्रयोजन होने चाहिए —

१. ज्ञान की प्राप्ति के लिए, २. सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति के लिए, ३. सदाचरण में प्रवृत्ति के हेतु, ४. दुराग्रहों और अज्ञान का विमोचन करने के लिए, ५. यथार्थ का बोध करने के लिए या यथा अवस्थित भावों का ज्ञान प्राप्त करने के लिए।

आचार्य अकलंक ने तत्त्वार्थराजवार्तिक (९/२५) में स्वाध्याय के निम्न पाँच प्रयोजनों की भी चर्चा की है —

१. बुद्धि की निर्मलता, २. प्रशस्त मनोभावों की प्राप्ति, ३. जिनशासन की रक्षा, ४. संशय की निवृत्ति, ५. परिवादियों की शंका का निरसन, तप-त्याग की वृद्धि और अतिचार (दोषों) की शुद्धि।

स्वाध्याय का साधक जीवन में स्थान

स्वाध्याय का जैन परम्परा में कितना महत्त्व रहा है, इस सम्बन्ध में अपनी ओर से कुछ न कहकर उत्तराध्ययनसूत्र के माध्यम से ही अपनी बात को स्पष्ट करूँगा। उसमें मुनि की जीवनचर्या की चर्चा करते हुए कहा गया है —

दिवसस्स चउरो भागे कुज्जा भिक्खू वियक्खणो।
तओ उत्तरगुणे कुज्जा दिणभागेसु चउसु वि।।

पढमं पोरिसिं सज्झायं बीयं झाणं झियायई।
तइयाए भिक्खायरियं पुणो चउत्थीए सज्झायं।।
रत्तिं पि चउरो भागे भिक्खू कुज्जा वियक्खणो।
तओ उत्तरगुणे कुज्जा राइभाएसु चउसु वि।।
पढमं पोरिसि सज्झायं बीयं झाणं झियायई।
तइयाए निद्दमोक्खं तु चउत्थी भुज्जो वि सज्झायं।।

— उत्तराध्ययनसूत्र, २६/११,१२,१७,१८.

मुनि दिन के प्रथम प्रहर में स्वाध्याय करे, दूसरे प्रहर में ध्यान करे, तीसरे में भिक्षाचर्या एवं दैहिक आवश्यकता की निवृत्ति का कार्य करे। पुनः चतुर्थ प्रहर में स्वाध्याय करे। इसी प्रकार रात्रि के प्रथम प्रहर में स्वाध्याय, दूसरे में ध्यान, तीसरे में निद्रा व चौथे में पुनः स्वाध्याय का निर्देश है। इस प्रकार मुनि प्रतिदिन चार प्रहर अर्थात् १२ घण्टे स्वाध्याय में रत रहे, दूसरे शब्दों में साधक जीवन का आधा भाग स्वाध्याय के लिए नियत था। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि जैन परम्परा में स्वाध्याय की महत्ता प्राचीन काल से ही सुस्थापित रही, क्योंकि यही एक ऐसा माध्यम था जिसके द्वारा व्यक्ति के अज्ञान का निवारण तथा आध्यात्मिक विशुद्धि सम्भव थी।

सत्साहित्य के अध्ययन की दिशाएँ

सत्साहित्य के पठन के रूप में स्वाध्याय की क्या उपयोगिता है? यह सुस्पष्ट है। वस्तुतः सत्साहित्य का अध्ययन व्यक्ति की जीवनदृष्टि को ही बदल देता है। ऐसे अनेक लोग हैं, जिनकी सत्साहित्य के अध्ययन से जीवन की दिशा ही बदल गयी। स्वाध्याय एक ऐसा माध्यम है, जो एकान्त के क्षणों में हमें अकेलापन महसूस नहीं होने देता और एक सच्चे मित्र की भाँति सदैव साथ देता है और मार्गदर्शन करता है।

वर्तमान युग में यद्यपि लोगों में पढ़ने-पढ़ाने की रुचि विकसित हुई है, किन्तु हमारे पठन की विषय-वस्तु सम्यक् नहीं है। आज के व्यक्ति के पठन-पाठन का मुख्य विषय पत्र-पत्रिकाएँ हैं। इनमें मुख्य रूप से वे ही पत्रिकाएँ अधिक पसन्द की जा रही हैं, जो वासनाओं को उभारने वाली तथा जीवन के विद्रूपित पक्ष को यथार्थ के नाम पर प्रकट करने वाली हैं। आज समाज में नैतिक मूल्यों का जो पतन हो रहा है उसका कारण हमारे प्रसार माध्यम भी हैं। इन माध्यमों में पत्र-पत्रिकाएँ तथा आकाशवाणी एवं दूरदर्शन प्रमुख हैं। आज स्थिति ऐसी है कि ये सभी अपहरण, बलात्कार, गबन, डकैती, चोरी, हत्या इन सबकी सूचनाओं से भरे होते हैं और हम उनके पढ़ने और देखने में अधिक रस लेते हैं। इनके दर्शन और प्रदर्शन से हमारी जीवनदृष्टि ही विकृत हो चुकी है। आज सच्चरित्र व्यक्तियों एवं उनके जीवन वृत्तान्तों की सामान्य रूप से इन माध्यमों

द्वारा उपेक्षा की जाती है। अतः नैतिक मूल्यों और सदाचार से हमारी आस्था उठती जा रही है।

इस विकृत परिस्थिति में यदि मनुष्य के चरित्र को उठाना है और उसे सन्मार्ग एवं नैतिकता की ओर प्रेरित करना है तो हमें अपने अध्ययन की दृष्टि को बदलना होगा। आज साहित्य के नाम पर जो भी है वह पठनीय है, ऐसा नहीं है। आज यह आवश्यक है कि सत्साहित्य का प्रसारण हो और लोगों में उसके अध्ययन की अभिरुचि जागृत हो।

सत्साहित्य और सूक्ति

सत्साहित्य की विविध विधाओं में उपदेशात्मक गाथाओं और सूक्तियों का अपना महत्त्व है। ये गाथायें या सूक्तियाँ अति संक्षेप में गहन तथ्यों को प्रकाशित करने में समर्थ होती हैं। इनके माध्यम से अल्प स्वाध्याय से भी व्यक्ति उन सारभूत तथ्यों को पा लेता है, जो उसके जीवन के विकास एवं मूल्यनिष्ठा में सहायक होते हैं। यदि व्यक्ति नियमित रूप से सत्साहित्य की पाँच गाथाओं या श्लोकों का भी पठन एवं चिन्तन करे, तो उसके जीवन की दिशा बदल सकती है। कहा भी है—

सतसैया के दोहरे, ज्यों नाविक के तीर।
देखन में छोटन लगे, घाव करे गम्भीर।।

— महाकवि बिहारी



आचार्य हरिभद्रकृत श्रावकधर्मविधिप्रकरण एक परिचय

(सम्यक्त्व के विशेष सन्दर्भ में)

प्रस्तुत कृति में आचार्य हरिभद्र ने श्रावक शब्द के व्युत्पत्तिपरक अर्थ को स्पष्ट करते हुए 'जिनवाणी' का श्रवण करने वाले को श्रावक कहा हैं, किन्तु यही पर्याप्त नहीं हैं, उनकी दृष्टि में श्रावक होने के लिए कुछ योग्यताएँ भी अपेक्षित हैं। उन्होंने इस तथ्य को स्पष्ट करते हुए कहा है कि जो श्रावक धर्म का अधिकारी है अर्थात् श्रावक होने की पात्रता रखता है उसके द्वारा ही श्रावक धर्म का आचरण सम्भव है। अनाधिकारी या अपात्र व्यक्ति द्वारा किया गया श्रावक धर्म का परिपालन भी जिनेश्वर देव की आज्ञाभंग के दोष से दूषित होने के कारण अधर्म ही बन जाता है। आचार्य हरिभद्र की दृष्टि में श्रावक धर्म का अधिकारी या पात्र वही व्यक्ति हो सकता है जो दूसरों से भयभीत नहीं होता है, क्योंकि धार्मिक चेतना का विकास निर्भय मानसिकता में ही सम्भव है। पुनः आचार्य कहते हैं कि श्रावक धर्म का पालन कोई भी व्यक्ति अपनी कुल परम्परा से प्राप्त शुद्ध आजीविका का अर्जन करते हुए कर सकता है। श्रावक धर्म के लक्षणों की चर्चा करते हुए वे यह बताते हैं कि धर्म के प्रति प्रीति रखना, न तो किसी की निन्दा करना और न निन्दा सुनना, अपितु निन्दकों पर भी करुणा रखना श्रावक धर्म की आराधना के लिए आवश्यक है। हरिभद्र की दृष्टि में जिज्ञासुवृत्ति और चित्त की एकाग्रता भी धर्म-साधना के अन्य मुख्य अंग हैं। इसी प्रकार नियत समय पर चैत्यवन्दन (देव-वन्दन), गुरु का विनय, उचित आसन पर बैठकर धर्म श्रवण, स्वाध्याय में सतत् उपयोग — ये सभी कार्य श्रावक धर्म के आचरण के लिए आवश्यक हैं। आगे आचार्य हरिभद्र श्रावक-आचार की विशिष्टता बताते हुए कहते-हैं कि अपने सदाचरण से सभी का प्रिय होना, अनिन्दित कर्म से आजीविका उपार्जन करना, आपत्ति में धैर्य रखना, यथाशक्ति तप, त्याग और धर्म का आचरण करना यही श्रावक के मुख्य लक्षण हैं। उपर्युक्त गुणों से युक्त होकर के ही गृहस्थ धर्म का परिपालन सम्भव होता है, इन गुणों के अभाव में जिन-आज्ञा की विराधना होती है और श्रावक धर्म के परिपालन की पात्रता ही समाप्त हो जाती है।

गृहस्थधर्म के अधिकारी के लक्षणों की चर्चा के उपरान्त आचार्य हरिभद्र ने प्रस्तुत कृति में इस बात पर अधिक बल दिया है कि पञ्च अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार

शिक्षाव्रत रूपी श्रावक धर्म का मूल आधार सम्यक्त्व है। प्रस्तुत कृति में आचार्य ने सम्यक्त्व के सन्दर्भ में विस्तृत विवेचना प्रस्तुत की है। सर्वप्रथम उन्होंने सम्यक्त्व के क्षायिक, औपशमिक और क्षायोपशमिक — ऐसे तीन प्रकारों की चर्चा की है। इसी प्रसंग में उन्होंने यह भी बताया है कि जो न स्वयं मिथ्यात्व का सेवन करता है और न करवाता है और न करने वाले का अनुमोदन करता है वही सम्यक्त्व का अधिकारी होता है। मिथ्यात्व के अनेक रूपों की चर्चा करते हुए आचार्य ने सर्वप्रथम मुक्ति के निमित्त सरागी लौकिक देवताओं की उपासना को मिथ्यात्व प्रतिपादित किया है। इन लौकिक देवों की पुष्पमाला आदि से पूजा करना, वस्त्रादि से उनका सत्कार करना तथा मानसिक रूप से उनके प्रति प्रीति भाव रखना — हरिभद्र की दृष्टि में ये सभी मिथ्यात्व के लक्षण हैं। इसी प्रकार उन्होंने वीतराग लोकोत्तमदेव के लक्षण को लौकिक देवों पर घटित करना भी मिथ्यात्व माना है। उनकी दृष्टि में शुद्ध धर्माचरण से विमुख तापस, शाक्यपुत्रीयश्रमण आदि अन्य तैर्थिकों से संसर्ग रखना, उनकी प्रशंसा करना और उनके आदेशों का पालन करना भी मिथ्यात्व के लक्षण हैं। मात्र यही नहीं आचार्य ने स्पष्ट रूप से जैनमुनि के वेश को धारण करने वाले, किन्तु जिन-आज्ञा का सम्यक् रूप से पालन नहीं करने वाले पार्श्वस्थ आदि जैनाभासों के वन्दन, पूजन को भी मिथ्यात्व ही माना है। इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए उन्होंने शिथिलाचारी, खिन्न मन से मुनि जीवन जीने वाले, आचारहीन, नित्य एक स्थान पर रहने वाले, निमित्त आदि विद्याओं के द्वारा लोकरंजन करने वाले, स्वेच्छाचारी जैन श्रमणों को भी वन्दनीय नहीं माना है। उनकी दृष्टि में ऐसे-ऐसे जैनश्रमणों के वन्दन आदि से भी मिथ्यात्व की ही अभिवृद्धि होती है। आचार्य के अनुसार ऐसे साधुओं का संसर्ग भी सम्यक्त्व का नाशक माना गया है। इसी क्रम में स्वेच्छाचारी को परिभाषित करते हुए उन्होंने बताया है कि जो आगम विरुद्ध आचरण करता है और जिन वचनों की आगम विरुद्ध मनमाने ढंग से व्याख्याएँ करता है, वह स्वेच्छाचारी है। साथ ही ऐसा तथाकथित श्रमण जो ऋद्धि-गौरव, सुख-गौरव और रस-गौरव में डूबा रहता है, मात्र यही नहीं जो चैत्यादि के निर्माण में और उनके निमित्त से धन-धान्य की वृद्धि करने हेतु कुँआ, बगीचा आदि बनवाने में प्रवृत्त रहता है तथा श्रावकों पर मनमाने ढंग से कर आदि लगाकर सम्पत्ति एकत्र करता है, जिन आज्ञा का विराधक स्वेच्छाचारी श्रमण है। इस प्रकार आगम विरुद्ध आचरण करने वाले, जिन-वचन की मनमाने ढंग से अन्यथा व्याख्या करने वाले स्वच्छन्द मुनियों के उपाश्रय आदि में जाकर धर्म श्रवण आदि क्रियाएँ भी हरिभद्र की दृष्टि में मिथ्यात्व का ही कारण है। श्रद्धावान् श्रावक ऐसे स्वेच्छाचारी मुनियों के सम्पर्क में आकर निश्चित ही अपने सम्यक्त्व को दूषित करता है, क्योंकि सुविहितों और स्वेच्छाचारियों के उपदेशों में विसंवाद होने के कारण उसके मन में सन्देह उत्पन्न होता है। प्रस्तुत कृति में आचार्य हरिभद्र तो यहाँ तक कहते हैं कि ऐसे स्वेच्छाचारी मुनियों के चैत्य, उपाश्रय आदि स्थान भी मिथ्यात्व के हेतु होने से अर्धमायतन ही हैं। श्रावक

को इन साधुओं के सम्पर्क आदि को भी मिथ्यात्व का जनक जानकर त्याग करना चाहिए। इस प्रकार हम देखते हैं कि आचार्य हरिभद्र ने न केवल छद्मवेशी अन्य मतावलम्बी तापसों आदि के सम्पर्क, सत्कार, स्तुति आदि को मिथ्यात्व का कारण माना, अपितु उन जैन मुनियों, जो आगम विरुद्ध आचरण करते हैं, के सम्पर्क, सत्कार, सम्मान आदि को भी मिथ्यात्व का कारण माना है और सद्गृहस्थ को उनसे दूर रहने का ही निर्देश दिया है।

आचार्य हरिभद्र श्रावक धर्म के आधारभूत तत्त्व सम्यक्दर्शन की इस व्याख्या के प्रसंग में स्पष्ट रूप से कहते हैं कि यदि स्वयं इन शिथिलाचारियों के उपदेश का प्रतिषेध करने में असमर्थ हो तो, उनके उपदेश सुनने की अपेक्षा अपने कानों को बन्द कर लेना ही अच्छा है। इस प्रकार उन्होंने गृहस्थसाधकों को स्पष्ट रूप से यह निर्देश दिया है कि मनसा, वाचा और कर्मणा न तो मिथ्यात्व का सेवन करें, न करायें और न मिथ्यात्व का सेवन करने वाले का अनुमोदन करें। आचार्य अनुमोदन की सूक्ष्मता से चर्चा करते हुए यहाँ तक कहते हैं कि मिथ्यादृष्टियों के मध्य में निवास करना, उनके साथ खान-पान करना और उनके विचारों का प्रतिश्रवण करना भी उस विशिष्ट स्थिति में मिथ्यात्व का अनुमोदन हो जाता है, जब उससे सम्यक्त्व के दूषित होने की सम्भावना हो। यद्यपि इस चर्चा के प्रसंग में हरिभद्र यह अवश्य स्वीकार करते हैं कि मात्र साथ रहने अथवा खान-पान आदि साथ-साथ करने से मिथ्यात्व का अनुमोदन नहीं हो जाता हैं। आचार्य की दृष्टि में इन परिस्थितियों में मिथ्यात्व का अनुमोदन तभी होता हैं, जब व्यक्ति स्वयं उनमें सम्मिलित होकर उन्हें अच्छा समझने लगता है। मात्र परस्पर एक दूसरे के साथ रहने आदि से ही किसी व्यक्ति को एक दूसरे का समर्थक नहीं माना जा सकता है। नगर में राजा, अमात्य, श्रेष्ठी, कलाजीवी, वणिक, मालाकार, स्वर्णकार एवं सेवकजन सब साथ-साथ रहते हैं, फिर भी उन्हें एक दूसरे का समर्थक नहीं कहा जाता है। वस्तुत: संवास या परस्पर भोग-उपभोग मात्र से अनुमति सम्भव नहीं है। आचार्य तर्क देते हैं कि यदि यह हो तो फिर सम्यक्त्व में भी उन सबकी अनुमति मानना होगी। पुन: ऐसी स्थिति में अभव्य जनों का भी सम्यक्त्व में अनुमोदन मानना होगा, जिसे जैन परम्परा स्वयं स्वीकार नहीं करती है। अन्त में आचार्य हरिभद्र कहते हैं कि सम्यक्त्व के साधक श्रावक को मिथ्यात्व से विरत होकर गुरु के समीप जाकर वीतराग अरहन्त परमात्मा मेरे देव अर्थात् आराध्य हैं, अहिंसा आदि पाँच महाव्रतों का परिपालन करने वाले साधु ही मेरे गुरु हैं और अहिंसा ही धर्म है ऐसी प्रतिपत्ति स्वीकार करनी चाहिए। सम्यक्त्व की चर्चा के प्रसंग में आचार्य हरिभद्र ने आठ दर्शनाचारों का उल्लेख भी किया है और उनकी विस्तृत विवेचना भी की है और इस प्रसंग में उन्होंने जैनधर्मदर्शन की अनेक महत्त्वपूर्ण दार्शनिक समस्याओं को उठाया भी है। निश्शंकितत्त्व की चर्चा करते हुए पूर्व पक्ष के रूप में वे प्रश्न उठाते हैं कि जीवों में उपयोग लक्षण समान

है, तो फिर एक को भव्य और दूसरे को अभव्य कैसे माना जा सकता है? अथवा एक परमाणु-पूरित प्रदेश (क्षेत्र) में दूसरे परमाणु अवगाहन कैसे कर सकते हैं और उसी प्रदेश में सर्वव्यापी होकर कैसे रहते हैं? क्योंकि परमाणु से सूक्ष्म तो कुछ होता ही नहीं है और प्रत्येक परमाणु एक आकाश प्रदेश का अवगाहन करके रहता है, अत: एक ही आकाश प्रदेश में अनेक परमाणु सर्वव्यापी हो कैसे रह सकते हैं? हरिभद्र की दृष्टि में ये एक देश विषयक अर्थात् आंशिक शंकाएं हैं। इसी क्रम में गणिपिटक (जैन आगम) सामान्य पुरुषों द्वारा रचित है अथवा सर्वज्ञ द्वारा रचित है? ऐसी शंका करना सर्व विषयक सर्वांश शंका है, क्योंकि इससे सम्यक्त्व का आधार ही समाप्त हो जाता है।

इसी प्रकार निराकांक्षा की चर्चा करते हुए बताया गया है कि कर्मों का फल मिलेगा या न मिलेगा इस प्रकार का विचार करना आकांक्षा है। इसी प्रसंग में आचार्य ने यह भी कहा है, स्वधर्म का त्याग कर दूसरे धर्म-दर्शनों की इच्छा करना भी आकांक्षा का ही रूप है। किसी अन्य धर्म विशेष की आकांक्षा करना एक देश अर्थात् आंशिक आकांक्षा है। इससे भिन्न सभी मतों की आकांक्षा करना या यह मानना कि वे सभी धर्म या दर्शन मोक्ष की ओर ही ले जाते हैं, सर्व विषयक आकांक्षा है। यहाँ आचार्य ने शंका के प्रसंग में 'पेयपाई' और आकांक्षा के प्रसंग में 'राजा और अमात्य' की कथा का निर्देश दिया है। प्रस्तुत कृति में हमें कहीं भी ऐसे संकेत उपलब्ध नहीं होते हैं, जिससे हम यह कथा क्या है, इसका विवेचन कर सकें।

इसी क्रम में निर्विचिकित्सा अंग की चर्चा करते हुए कहा गया है कि विचिकित्सा अर्थात् घृणा भी दो प्रकार की मानी गई है एकांश विषयक और दूसरी सर्व विषयक। विचिकित्सा को स्पष्ट करते हुए आचार्य ने कहा है कि चैत्यवन्दन, व्रतपालन आदि अनुष्ठान सफल होंगे या निष्फल होंगे अथवा इनका फल मिलेगा या नहीं? ऐसे कुशंका को विचिकित्सा कहा जाता है। किन्तु सामान्यतया विचिकित्सा का तात्पर्य जैन साधु के मलिन शरीर या वस्त्रादि को देखकर घृणा करना माना जाता है। पूर्व में स्वयं आचार्य हरिभद्र ने इसी अर्थ का निर्देश किया है, किन्तु प्रस्तुत प्रसंग में उन्होंने विचिकित्सा का एक नया अर्थ किया है। विचिकित्सा के सन्दर्भ में आचार्य ने श्रद्धाहीन श्रावक और विद्या की साधना करने वाले श्रद्धावान् चोर का उदाहरण तथा प्रत्यन्तवासी अर्थात् सीमान्त प्रदेशवासी श्रावक पुत्री की कथा का निर्देश भी किया है।

अमूढ़दृष्टि दर्शनाचार का प्रतिपादन करते हुए उन्होंने बताया है कि बौद्ध आदि इतर धर्मावलम्बियों की विभिन्न प्रकार की साधना विधियों के प्रति आकर्षित एवं उनके पूजा, सत्कार आदि को देखकर भ्रान्त न होना ही अमूढ़दृष्टि है। विशिष्ट तप करने वाले, वृद्ध, ग्लान, रोगी, शैक्ष आदि की सेवा शुश्रुषा करने वाले विनयवान एवं स्वाध्यायी मुनियों की प्रशंसा करना उपब्रहनहै। इसी प्रकार धर्म मार्ग से च्युत होते हुए

व्यक्तियों को पुनः धर्म मार्ग में स्थिर करना स्थिरीकरण है। वस्तुतः यह धर्म साधना के क्षेत्र में खिन्न हुए व्यक्तियों को प्रोत्साहित कर उन्हें साधना में प्रतिष्ठित करना है। स्वधर्मीवात्सल्य को स्पष्ट करते हुए आचार्य हरिभद्र कहते हैं कि स्वधर्मी जनों के प्रति वात्सल्य या अनुराग रखना, कष्ट के समय उनकी सहायता करना स्वधर्मीवात्सल्य है। आचार्य ने अमूढ़दृष्टि के प्रसंग में सुलसा श्राविका की, उपब्रहन के सन्दर्भ में राजा श्रेणिक की, स्थिरीकरण के प्रसंग में आषाढ़ाचार्य की और वात्सल्य के प्रसंग में वज्रस्वामी की कथाओं का निर्देश किया है।

अन्तिम प्रभावना अंग की चर्चा करते हुए वे कहते हैं कि विभिन्न प्रकार की लब्धियों (ऋद्धियों), विविध प्रकार की विधाओं (तन्त्र-मन्त्र आदि), अष्टांगज्योतिष, निमित्तशास्त्र आदि में पारंगत होकर उनके माध्यम से जिनशासन की प्रभावना करना सम्यक्-दर्शन का प्रभावना अंग है।

आचार्य ने यहाँ यह भी बताया है कि सम्यक्त्व का बोध होने पर भी व्रत प्रतिपत्ति अर्थात् अणुव्रतों आदि को ग्रहण करने की भावना वैकल्पिक हो सकती है, किन्तु ऐसे व्यक्ति को भी सेवा एवं स्वाध्याय आदि तो नियम से करना ही चाहिए। आचार्य यह भी मानते हैं कि एक बार सम्यक्त्व की प्राप्ति हो जाने पर संसार समुद्र को पार करने के लिए नौका के समान व्रत आदि भी कालान्तर में अवश्य ही प्राप्त होते हैं। सम्यक्त्व की चर्चा के उपरान्त प्रस्तुत कृति में पाँच अणुव्रतों, तीन गुणव्रतों और चार शिक्षाव्रतों की चर्चा की गई है। इस सन्दर्भ में आचार्य हरिभद्र ने तत्त्वार्थसूत्र का अनुसरण न करके उपासकदशा के क्रम का अनुकरण किया है। मात्र अन्तर यह है कि जहाँ उपासकदशा में अणुव्रत एवं शिक्षाव्रत ऐसा द्विविध वर्गीकरण है, वहाँ आचार्य हरिभद्र ने कालान्तर में विकसित अणुव्रत, गुणव्रत एवं शिक्षाव्रत ऐसा त्रिविध वर्गीकरण किया है। श्रावक के व्रतों की इस चर्चा के प्रसंग में प्रस्तुत कृति में हरिभद्र ने श्रावक को किस व्रत का परिपालन कितने योगों और कितने करणों से करना होता है, इसकी विस्तृत चर्चा की है। आचार्य हरिभद्र ने करण और योग के सन्दर्भ में कुल भंगों की संख्या ४९ मानी है और उनको भी अतीत, अनागत और वर्तमान के साथ गुणित करने पर कुल १४७ भंग माने हैं। साथ ही यह भी बताया है कि भरतक्षेत्र के मध्यखण्ड के बाहर अनुमतिनिषेध के तीन भंग कम करने पर स्वयं के विषय में १४४ भंग होते हैं। यहाँ यह भी चर्चा की गई है कि भरतक्षेत्र के बाहर श्रावकों के भी सर्वव्रत साधु के समान ही तीनकरण और तीनयोग से ही होते हैं। ज्ञातव्य है कि योग (साधन) तीन हैं — १. मन, २. वचन और ३. काया। इनके संयोग से कुल सात भंग (विकल्प) होते हैं यथा — १. मन, २. वचन, ३. काया, ४. मन और वचन, ५. मन और काया, ६. वचन और काया तथा ७. मन, वचन और काया। इसी प्रकार करण भी तीन हैं — १. करना, २. कराना और ३. अनुमोदन। इनके भी सांयोगिक भंग सात ही होंगे। यथा —

१. करना, २. कराना, ३. अनुमोदन, ४. करना और कराना, ५. करना और अनुमोदन करना, ६. कराना और अनुमोदन करना तथा ७. करना, कराना एवं अनुमोदन करना। इस प्रकार सात योग और सात करण को परस्पर गुणित करने पर उनचास (७×७=४९) भंग होते हैं। ये उनचास भंग भी तीन कालों की उपेक्षा से एक सौ सैतालीस (४९×३=१४७) भंग हो जाते हैं।

इस चर्चा के पश्चात् प्रस्तुत कृति में आचार्य ने श्रावक के बारह व्रतों और उनके प्रत्येक के अतिचारों की विस्तृत चर्चा की है। आचार्य हरिभद्र ने भी सामान्यतया तो उन्हीं अतिचारों की चर्चा की है जो अन्य ग्रन्थों में भी वर्णित हैं। हरिभद्र द्वारा वर्णित अतिचारों की यह सूची उपासकदशा से बहुत कुछ मिलती है। किन्तु कुछ अवधारणाओं को लेकर हरिभद्र का मतवैभिन्य भी दृष्टिगत होता है। उदाहरण के रूप में जहाँ छठें दिग्व्रत की चर्चा में जहाँ अन्य आचार्यों ने अन्य गुणव्रतों के समान इस गुणव्रत को भी आजीवन के लिए ग्राह्य माना गया है वहाँ आचार्य हरिभद्र ने दिग्व्रत का नियम चातुर्मास या उससे कुछ अधिक महीनों के लिए ही बताया है। आश्चर्य यह भी है कि उन्होंने दिग्व्रत के सर्वमान्य अतिचारों यथा — उर्ध्व, अधो एवं तिर्यक् दिशा की मर्यादा का अतिक्रमण आदि की चर्चा के साथ ही साथ निर्धारित क्षेत्र के बाहर आनयन और प्रेषण को भी दिग्व्रत का अतिचार माना है। सामान्यतया इनकी चर्चा दिशावकाशिक नामक शिक्षाव्रत में की जाती है। शेष गुणव्रतों की चर्चा में कोई विशिष्ट अन्तर नहीं देखा जाता है। शिक्षाव्रतों के अतिचारों का विवेचन भी उन्होंने उपासकदशा की परम्परा के अनुसार ही किया है। अणुव्रतों, गुणव्रतों और शिक्षाव्रतों के प्रसंग में उन्होंने स्पष्ट रूप से यह प्रतिपादित किया है कि जहाँ पाँच अणुव्रत और तीन गुणव्रत आजीवन के लिए ग्रहण किए जाते हैं वहाँ शिक्षाव्रत निश्चित समय के अथवा दिनों के लिए ही ग्रहण किए जाते हैं। श्रावक के १२ व्रतों की इस चर्चा के पश्चात् उन्होंने संलेखना का उल्लेख तो किया है, किन्तु उसे श्रावक का आवश्यक कर्त्तव्य नहीं माना है।



अपभ्रंश के महाकवि स्वयम्भू : व्यक्तित्त्व एवं कृतित्त्व

महाकवि स्वयंभूदेव का अपभ्रंश साहित्य के कवियों में महत्त्वपूर्ण अवदान है। पुष्पदन्त ने उन्हें व्यास, भास, कालिदास, भारवी और बाण के समकक्ष कवि माना है। वे 'महाकवि', 'कविराज', 'कवि चक्रवर्ती' जैसी उपाधियों से सम्मानित थे। यद्यपि स्वयंभू की तीन महत्त्वपूर्ण कृतियाँ आज भी अविकल रूप से उपलब्ध हैं, फिर भी उनसे उनके जीवन के सम्बन्ध में बहुत कम जानकारी उपलब्ध होती है। उनकी इन कृतियों में उनके जन्म-स्थान, कुल, परम्परा, समय आदि के सम्बन्ध में बहुत कम सूचनाएँ प्राप्त हैं। जहाँ तक स्वयंभू के पारिवारिक जीवन का प्रश्न है, हमें मात्र इतनी ही जानकारी प्राप्त है कि उनके पुत्रों में एक पुत्र का नाम त्रिभुवनस्वयंभू था, जिसने अपने पिता की अधूरी कृति को पूर्ण किया था। इसके साथ ही स्वयंभू की कृतियों में उनके पिता मारुतदेव और माता पद्मनी उल्लेख मिलता है। उन्होंने यह भी कहा है कि उनकी माता पद्मनी पद्म के समान ही सुन्दर थीं। इन सामान्य सूचनाओं के अतिरिक्त उनकी वंश परम्परा आदि की विस्तृत जानकारी अप्राप्त है। स्वयंभू की दो पत्नियाँ थीं एक अमृताम्बा और दूसरी आदित्याम्बा। पण्डित नाथूराम प्रेमी ने उनकी तीसरी पत्नी सुअम्बा का भी अनुमान किया है, जो सम्भवत: उनके पुत्र त्रिभुवनस्वयंभू की माता थीं।

स्वयंभू का काल

जहाँ तक स्वयंभू के समय का प्रश्न है उनकी कृतियों में कहीं भी रचनाकाल का कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता है फिर भी उन्होंने अपनी कृतियों में बाण, श्रीहर्ष, रविषेण आदि का स्मरण किया गया है, इससे कुछ अनुमान लगाया जा सकता है। रविषेण के पद्मचरित्र का रचनाकाल ई० सन् ६७७ माना जाता है। अत: इतना निश्चित है कि स्वयंभू ई० सन् ६७७ के पश्चात् ही हुए हैं। पुन: पुष्पदन्त ने अपने महापुराण में अपने पूर्ववर्ती कवियों में स्वयंभू का उल्लेख किया है। पुष्पदन्त के महापुराण का रचनाकाल ई० सन् ९६० है। अत: इतना निश्चित होता है कि स्वयंभू ई० सन् ६७७

से ९६० के बीच कभी हुए हैं। स्वयंभू द्वारा रविषेण का उल्लेख तथा जिनसेन का अनुल्लेख यह भी सूचित करता है कि वे जिनसेन के कुछ पूर्व ही हुए होंगे। जिनसेन के हरिवंशपुराण का रचनाकाल ई० सन् ७८३ माना जाता है, अत: स्वयंभू का समय ई० सन् ६७७ से ई० सन् ७८३ के मध्य भी माना जा सकता है। यद्यपि यह एक अभावात्मक साक्ष्य है इसीलिए प्रो० भयाणी इसे मान्य नहीं करते हैं। सम्भवत: उनके इस कथन का आधार स्वयम्भू द्वारा राष्ट्रकूट राजा ध्रुव के सामन्त धनञ्जय का अपने आश्रयदाता के रूप में उल्लेख है। उन्होंने पउमचरिउ के विद्याधर काण्ड में स्वयं ही यह उल्लेख किया है उन्होंने ध्रुव के हेतु इसकी रचना की। इतिहासकारों ने राष्ट्रकूट राजा ध्रुव का काल ई० सन् ७८० से ७९४ माना है। स्वयम्भू इनके समकालीन रहे होंगे। स्वयम्भू द्वारा अपनी कृतियों में काण्डों की समाप्ति में वारों, नक्षत्रों आदि का उल्लेख तो किया गया है। किन्तु दुर्भाग्य से संवत् का उल्लेख कहीं नहीं है। इनके अनुसार पिल्लाई पञ्चाङ्ग के आधार पर प्रो० भयाणी ने यह माना कि युद्धकाण्ड ३१ मई, ७१७ को समाप्त हुआ होगा। किन्तु यह मात्र अनुमान ही है, क्योंकि यहाँ संवत् के स्पष्ट उल्लेख का अभाव है। फिर भी इतना तो सुनिश्चित है कि स्वयम्भू ई० सन् की ८ वीं शताब्दी के उत्तरार्ध एवं नवीं शताब्दी के पूर्वार्ध अर्थात् ई० सन् ७५१ से ८५० के बीच कभी हुए हैं।

स्वयंभू का सम्प्रदाय

जहाँ तक स्वयम्भू की धर्म परम्परा का प्रश्न है यह स्पष्ट है कि वे जैन परम्परा में हुए हैं यद्यपि उनके पुत्रादि के नामों को देखकर ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि उनके कुल का सम्बन्ध शैव या वैष्णव परम्परा से रहा होगा। किन्तु मेरी दृष्टि में यह कल्पना इसलिए समीचीन नहीं लगती है कि यदि वे शैव या वैष्णव परम्परा में हुए होते तो निश्चित ही वाल्मीकि की रामकथा का अनुसरण करते न कि विमलसूरि या रविषेण की रामकथा का। पुन: उनके द्वारा रिट्ठनेमिचरिउ आदि की रचना से भी यह स्पष्ट हो जाता है कि उनका सम्बन्ध जैन परम्परा से रहा होगा। इसका स्पष्ट प्रमाण यह है कि पुष्पदन्त के महापुराण के संस्कृत टिप्पण में उन्हें स्पष्टतया आपलीयसंघीय (यापनीयसंघीय) कहा गया है। डॉ० किरण सीपानी ने उनके व्यक्तित्व आदि के सम्बन्ध में विस्तृत चर्चा करते हुए स्वयम्भू की धार्मिकसहिष्णुता एवं वैचारिक उदारता के आधार पर जो यह निष्कर्ष निकाला है कि वे कट्टरतावादी दिगम्बर सम्प्रदाय की अपेक्षा जैन धर्म के समन्वयवादी यापनीय सम्प्रदाय से सम्बन्धित रहे होंगे, उचित तो है। फिर भी मेरी दृष्टि में स्वयम्भू का मात्र सहिष्णु और उदारवादी होना ही उनके यापनीय होने का प्रमाण नहीं है, इसके अतिरिक्त भी ऐसे अनेक प्रमाण हैं जिसके आधार पर उन्हें यापनीय सम्प्रदाय का माना जा सकता है।

१. स्वयम्भू ने भी अपने रामकथा के स्रोत की चर्चा करते हुए रविषेण की परम्परा का अनुसरण किया है। वे भी इस कथा को महावीर, इन्द्रभूति, सुधर्मा, प्रभव, कीर्ति तथा रविषेण से प्राप्त बताते हैं। अपने कथास्रोत में प्रभव आदि का उल्लेख यही सिद्ध करता है कि वे यापनीय परम्परा से सम्बद्ध रहे होंगे क्योंकि दिगम्बर परम्परा में प्रभव का उल्लेख नहीं हैं।

२. उनकी रामकथा में भी विमलसूरि के 'पउमचरिय' तथा रविषेण के 'पद्मचरित' का अनुसरण हुआ है। उन्होंने दिगम्बर परम्परा में प्रचलित गुणभद्र की रामकथा का अनुसरण नहीं किया है। इससे भी यही सिद्ध होता है कि उनकी कथाधारा दिगम्बर परम्परा की कथा-धारा से भिन्न है। यदि रविषेण यापनीय हैं तो उनकी कथा-धारा का अनुसरण करने वाले स्वयंभू भी यापनीय ही सिद्ध होते हैं।[१]

३. यद्यपि स्वयंभू ने स्पष्ट रूप से अपने सम्प्रदाय का उल्लेख ही नहीं किया है, किन्तु पुष्पदन्त के महापुराण के टिप्पण में उन्हें आपलीय संघीय बताया गया है।[२] इसी आधार पर पण्डित नाथूराम जी प्रेमी ने भी उन्हें यापनीय माना है।[३]

४. स्वयम्भू द्वारा दिवायर (दिवाकर), गुणहर (गुणधर), विमल (विमलसूरि) आदि अन्य परम्परा के कवियों का आदरपूर्वक उल्लेख भी उनके यापनीय परम्परा से सम्बद्ध होने का प्रमाण इसीलिए माना जाना चाहिए कि ऐसी उदारता यापनीय परम्परा में देखी जाती है, दिगम्बर परम्परा में नहीं।

५. स्वयम्भू के ग्रन्थों में अन्यतैर्थिक की मुक्ति की अवधारणा को स्वीकार किया गया है। अन्यतैर्थिक की मुक्ति की अवधारणा आगमिक है और आगमों को मान्य करने के कारण यह अवधारणा श्वेताम्बर और यापनीय दोनों में स्वीकृत रही है। उत्तराध्ययन, जिसमें स्पष्ट रूप से अन्यलिंग सिद्ध का उल्लेख है, यापनीयों को भी मान्य रहा है। प्रोफेसर एच० सी० भायाणी का मन्तव्य भी उन्हें यापनीय मानने के पक्ष में है। वे लिखते हैं कि यद्यपि इस सन्दर्भ में हमें स्वयंभू की ओर से प्रत्यक्ष या परोक्ष कोई वक्तव्य नहीं मिलता है, परन्तु यापनीय सग्रन्थ अवस्था तथा परशासन से भी मुक्ति स्वीकार करते थे और स्वयम्भू ने भी अपनी कृतियों में ऐसे उल्लेख किये हैं, पुन: वे अपेक्षाकृत अधिक उदारचेता थे, अत: उन्हें यापनीय माना जा सकता है।

६. एक ओर अचेलकत्व पर बल और दूसरी ओर श्वेताम्बर मान्य आगमों में उल्लिखित अनेक तथ्यों की स्वीकृति उन्हें यापनीय परम्परा से ही सम्बद्ध करती है। श्रीमती कुसुम पटोरिया भी इसी निष्कर्ष पर पहुँचती हैं। वे लिखती हैं कि महाकवि पुष्पदन्त के महापुराण के टीकाकार ने जिस परम्परा के आधार पर इन्हें आपलीसंघीय कहा है वह परम्परा वास्तविक होनी चाहिए। साथ ही अनेक अन्य

तथ्यों से भी इनके यापनीय होने का समर्थन होता है।

इनके अतिरिक्त भी डॉ० कुसुम पटोरिया ने स्वयम्भू के ग्रन्थों के अध्ययन के आधार पर अन्य कुछ ऐसे प्रमाण प्रस्तुत किये हैं, जिससे वे कुछ मान्यताओं के सन्दर्भ में दिगम्बर परम्परा से भिन्न एवं यापनीय प्रतीत होते हैं।

१. दिगम्बर परम्परा के तिलोयपण्णत्ती, त्रिलोकसार और उत्तरपुराण में राम (बलराम) को आठवाँ और पद्म (रामचन्द्र) को नौवाँ बलदेव बताया गया है। जबकि श्वेताम्बर ग्रन्थों यथा समवायांग, पउमचरियं, त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित, अभिधानचिन्तामणि, विचारसारप्रकरण आदि में पद्म (राम) को आठवाँ और बलराम को नवाँ बलदेव कहा गया है। राम का पद्म नाम दिगम्बर परम्परानुसारी नहीं है, राम का पद्म नाम मानने के कारण रविषेण और स्वयंभू दोनों यापनीय प्रतीत होते हैं।

२. देवकी के तीन युगलों के रूप में छह पुत्र कृष्ण के जन्म के पूर्व हुए थे, जिन्हें हरिणेगमेसी देव ने सुलसा गाथापत्नी के पास स्थानान्तरित कर दिया था। स्वयम्भू के रिट्ठनेमिचरिउ का यह कथानक श्वेताम्बर आगम अतंकृतदशा में यथावत् उपलब्ध होता है। स्वयंभू द्वारा आगम का यह अनुसरण उन्हें यापनीय सिद्ध करता है।

३. स्वयम्भू ने पउमचरिउ में देवों की भोजनचर्या के सम्बन्ध में उल्लेख किया है कि गन्धर्व पूर्वाह्न में, देव मध्याह्न में, पिता-पितामह (पितृलोक के देव) अपराह्न में और राक्षस, भूत, पिशाच एवं ग्रह रात्रि में खाते हैं, जबकि दिगम्बर परम्परा के अनुसार देवता कवलाहारी नहीं है, उनके अनुसार देवताओं का मानसिक आहार होता हैं (देवेसु मणाहारी)।

४. इन्होंने कथास्रोत का उल्लेख करते हुए क्रम से महावीर, गौतम, सुधर्म, प्रभव, कीर्ति और रविषेण का उल्लेख किया है। प्रभव को स्थान देना उन्हें दिगम्बर परम्परा से पृथक् करता है क्योंकि दिगम्बर परम्परा में इनके स्थान पर विष्णु का उल्लेख मिलता है। यद्यपि इनके रिट्ठणेमिचरिउ के अन्त में जम्बू के बाद विष्णु नाम आया है, किन्तु यह अंश जसकीर्ति द्वारा प्रक्षिप्त है।

५. स्वयम्भू ने सीता के जीव का रावण एवं लक्ष्मण को प्रतिबोध देने सोलहवें स्वर्ग से तीसरी पृथ्वी में जाना बताया है। जबकि धवला टीका के अनुसार १२ वें से १६ वें स्वर्ग तक के देवता प्रथम पृथ्वी के चित्रा भाग से आगे नहीं जाते हैं।

६. पउमचरिउ में अजितनाथ के वैराग्य का कारण म्लानकमल बताया गया है, जबकि त्रिलोकप्रज्ञप्ति में तारा टूटना बताया गया है।

७. रविषेण के समान इन्होंने भी महावीर के चरणांगुष्ठ से मेरु के कम्पन का उल्लेख किया है। यह श्वेताम्बर मान्यता है।

८. भगवान् के चलने पर देवनिर्मित कमलों का रखा जाना-भगवान् का एक अतिशय माना गया है। यह भी श्वेताम्बर मान्यता है।

९. तीर्थंकर का मागधी भाषा में उपदेश देना। ज्ञातव्य है कि श्वेताम्बर मान्य आगम समवायांग में यह मान्यता है। दिगम्बर परम्परा के अनुसार तो तीर्थंकर की दिव्यध्वनि खिरती है, जो सर्व भाषा रूप होती है।

१०. दिगम्बर उत्तरपुराण में सगरपुत्रों का मोक्षगमन वर्णित है जबकि विमलसूरि के पउमचरियं के आधार पर रविषेण और स्वयम्भू ने भीम एवं भागीरथ को छोड़कर शेष का नागकुमार देव के कोप से भस्म होना बताया।

सुश्री कुसुम पटोरिया के अनुसार इन वर्णनों के आधार पर स्वयम्भू यापनीय सिद्ध होते हैं।

इस प्रकार इन सभी उल्लेखों में स्वयम्भू की श्वेताम्बर मान्यता ये निकटता और दिगम्बर मान्यताओं ये भिन्नता यही सिद्ध करती है कि वे यापनीय परम्परा से सम्बद्ध रहे होंगे।

पुन: स्वयम्भू मुनि नहीं, अपितु गृहस्थ ही थे, उनकी कृति 'पउमचरिउ' से जो सूचनाएँ हमें उपलब्ध होती हैं, उनके आधार पर उन्हें यापनीय परम्परा से सम्बन्धित माना जा सकता है।

स्वयम्भू का निवास स्थल सम्भवत: पश्चिमोत्तर कर्नाटक रहा हैं।[४] अभिलेखीय साक्ष्यों से ज्ञात होता है कि उस क्षेत्र पर यापनीयों का सर्वाधिक प्रभाव था। अत: स्वयम्भू के यापनीय संघ से सम्बन्धित होने की पुष्टि क्षेत्रीय दृष्टि से भी हो जाती है।

काल की दृष्टि से स्वयम्भू ७ वीं शताब्दी के उत्तरार्ध और ८ वीं शतीं के पूर्वार्ध के कवि हैं।[५] यह स्पष्ट है कि इस काल में यापनीय संघ दक्षिण में न केवल प्रवेश कर चुका था, अपितु वहाँ प्रभावशाली भी बन गया था। अत: काल की दृष्टि से भी स्वयम्भू को यापनीय परम्परा से सम्बन्धित मानने में कोई बाधा नहीं आती है।

साहित्यिक प्रमाण की दृष्टि से पुष्पदन्त के महापुराण की टीका में स्वयम्भू को स्पष्ट रूप से यापनीय (आपुली) बताया गया है। उसमें लिखा है- 'सयंभू पत्यड़िबद्ध कर्ता आपलीसंघीय:' इस कथन से यह निष्कर्ष निकलता है कि वे यापनीय संघ से सम्बन्धित थे।[६]

स्वयम्भू के यापनीय संघ से सम्बन्ध होने के लिए प्रो० भयाणी ने एक और महत्वपूर्ण प्रमाण यह दिया है कि यापनीय संघ वैचारिक दृष्टि से उदार और समन्वयवादी

था। यह धार्मिक उदारता और समन्वयशीलता स्वयम्भू के ग्रन्थों में विभिन्न स्थलों पर पाई जाती है। 'रिट्ठनेमिचरिउ' संधि ५५/३० और 'पउमचरिउ' संधि ४३/१९ में उनकी यह उदारता स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है। उनकी उदारता को सूचित करने के लिए हम यहाँ केवल एक ही गाथा दे रहे हैं—

अरहन्तु बुद्धु तुहुँ हरिहरन व, तुहुँ अण्णाण तमोहरिउ।
तुहुँ सुहुंमु णिरन्जणु परमपउ, तुहुँ रविदम्भु सयम्भु सिउ।।

दिगम्बर परम्परा धार्मिक दृष्टि से श्वेताम्बरों और यापनीयों की अपेक्षा अनुदार रही है, क्योंकि वह अन्यतैथिक मुक्ति को अस्वीकार करती है, जबकि श्वेताम्बर और यापनीय अन्यतैर्थिक की मुक्ति को स्वीकार करते हैं। स्वयम्भू की इस धार्मिक उदारता की विस्तृत चर्चा प्रो० भयाणी जी ने पउमचरिउ की भूमिका में की है। पाठक उसे वहाँ देख सकते है।[७] डॉ० किरण सिपानी ने भी अपनी कृति में इस उदारता का उल्लेख किया है।

स्वयम्भू की रामकथा और उसका मूलस्रोत

महाकवि स्वयम्भू के पउमचरिउ का अपभ्रंश साहित्य में वही स्थान है जो हिन्दी साहित्य में तुलसी की रामकथा का है। पउमचरिउ अपभ्रंश में रचित जैन रामकथा का महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। यह विमलसूरि के पउमचरियं और रविषेण के 'पद्मचरितं' पर आधारित है। यह ५ काण्डों और ९० संधियों में विभाजित है इसके विद्याधरकाण्ड में २० संधियाँ, अयोध्याकाण्ड में २२ संधियाँ, सुन्दरकाण्ड में १४ संधियाँ, युद्धकाण्ड में २१ संधियाँ और उत्तरकाण्ड में १३ संधियाँ हैं। इसकी इन ९० संधियों में ८२ संधियों की रचना स्वयं स्वयम्भू ने की थी। अन्तिम ७ संधियों की रचना उनके पुत्र त्रिभुवन ने की थी। ८३वीं सन्धि आंशिक रूप से दोनों की संयुक्त रचना प्रतीत होती है। ज्ञातव्य है कि स्वयम्भू ने राम और कृष्ण दोनों ही महापुरुषों के चरित्रों को लेकर अपभ्रंश भाषा में अपनी रचनाएँ कीं। उन्होंने जहाँ रिट्ठनेमिचरिउ अपरनाम हरिवंशपुराण में २२वें तीर्थंकर अरिष्ठनेमि के साथ-साथ कृष्ण तथा कौरव पाण्डव की कथा का विवेचन किया है, वहीं पउमचरिउ में रामकथा का। उनकी रामकथा का आधार विमलसूरि का पउमचरियं रहा है। जैन रामकथा में पउमचरियं का वही स्थान है जो हिन्दू रामकथा में वाल्मीकि रामायण का है। वस्तुतः रामकथा साहित्य में वाल्मिकी की रामायण के पश्चात् यदि कोई ग्रन्थ है, तो वह विमलसूरि का पउमचरियं (ईसा की दूसरी, तीसरी शती) है। जैनों ने राम (पद्म) को अपने ६३ शलाका पुरुषों में महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान किया है। जैनों में रामकथा की दो धाराएँ प्रचलित रही है एक धारा गुणभद्र के उत्तरपुराण की है, जिसका मूलस्रोत संघदासगणि की वसुदेवहिण्डी में मिलता है, तो दूसरी धारा का आधार विमलसूरि का पउमचरियं है। जैन आचार्यों ने जिन-जिन भाषाओं को अपनी

रचनाओं का आधार बनाया प्राय: उन सभी में रामकथा पर ग्रन्थ लिखे गये। प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश, कन्नड़, मरुगुर्जर और हिन्दी-इन सभी भाषाओं में हमें जैन रामकथा से सम्बन्धित ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं। रामकथा को लेकर सर्वप्रथम विमलसूरि ने प्राकृत में पउमचरियं की रचना की थी। उसी पउमचरियं को ही आधार बनाकर रविषेण ने संस्कृत भाषा में पद्मपुराण या पद्मचरित की रचना की। वस्तुत: रविषेण का पद्मपुराण विमलसूरि के पउमचरियं का संस्कृत रूपान्तरण ही कहा जा सकता है। पुन: स्वयंभू ने विमलसूरि के पउमचरियं और रविषेण के पद्मपुराण के आधार पर ही अपभ्रंश भाषा में अपने पउमचरिउ की रचना की।

डॉ० किरण सिपानी ने अपनी कृति 'पउमचरिउ का काव्यशास्त्रीय अध्ययन' में लिखा है कि जैनों के श्वेताम्बर सम्प्रदाय में केवल विमलसूरि की (रामकथा प्रचलित है) परन्तु दिगम्बर सम्प्रदाय में विमलसूरि एवं गुणभद्र दोनों की परम्पराओं का अनुसरण किया गया है। मेरी दृष्टि में उनके इस कथन में संशोधन की अपेक्षा है। श्वेताम्बर परम्परा में भी हमें रामकथा की दोनों धाराओं के संकेत मिलते हैं। उसमें संघदासगणि की वसुदेवहिण्डी में रामकथा की उस धारा का मूलस्रोत निहित है जिसे गुणभद्र ने अपने उत्तरपुराण में लिखा है। पुन: डॉ० सिपानी का यह कथन तो ठीक है कि दिगम्बर परम्परा में विमलसूरि और गुणभद्र दोनों ही कथाधाराएँ प्रचलित रही हैं। किन्तु इस सम्बन्ध में भी एक संशोधन अपेक्षित है।वस्तुत: निर्ग्रन्थ संघ की अचेल (दिगम्बर) परम्परा की दो धाराएँ रही हैं, एक उत्तरभारत की यापनीय धारा और दूसरी दक्षिण भारत की दिगम्बर धारा। वस्तुत: विमलसूरि की रामकथा का अनुसरण इसी यापनीय परम्परा ने किया है और यही कारण है कि रविषेण के पद्मपुराण और स्वयम्भू के पउमचरिउ में अनेक ऐसे संकेत उपलब्ध हैं, जो दिगम्बर परम्पराओं की मूलभूत मान्यता के विपरीत हैं। रविषेण और स्वयंभू ने विमलसूरि की रामकथा का अनुसरण किया उसका मुख्य कारण यह है कि ये दोनों ही यापनीय परम्परा से सम्बन्धित हैं। स्वयम्भू के सम्प्रदाय के सम्बन्ध में पुष्पदन्त के महापुराण के टिप्पण में स्पष्ट निर्देश है कि वे यापनीय संघ के थे। इसकी विस्तृत चर्चा हम पूर्व में स्वयम्भू के सम्प्रदाय के सुम्बन्ध में कर चुके हैं।

स्वयम्भू का व्यक्तित्व

पउमचरिउ के रचनाकार स्वयम्भू के व्यक्तित्व के सम्बन्ध में पं० नाथूराम प्रेमी, डॉ० भयाणी, डॉ० कोछड़, डॉ० देवेन्द्र कुमार जैन, डॉ० नगेन्द्र एवं श्री सत्यदेव चौधरी आदि अनेक विद्वानों ने चर्चा की है। डॉ० किरण सिपानी ने भी उस पर विस्तार से प्रकाश डाला है, मात्र यही नहीं उन्होंने कुछ स्थलों पर इन विद्वानों के विवेचन से अपना मतवैभिन्य भी प्रकट किया है। उदाहरण के रूप में वे पविरलदन्ते का अर्थ विरल दांत वाले न करके सघन दांत वाले करती हैं। पविरल में उन्होंने 'प' के स्थान पर 'अ' की योजना की है यद्यपि प्राचीन नागरी लिपि में 'प' और 'अ' के लिखने में थोड़ा

सा ही अन्तर है यथा प-(प), अ-(अ)। यह सम्भव है कि किसी लेहिए की भूल के कारण आगे "अ" के स्थान पर "प" का प्रचलन हो गया हो किन्तु जब तक अन्य कृतियों से इस पाठ भेद की पुष्टि न हो जाती हो तब तक "प" के स्थान पर "अ" की कल्पना कर लेना उचित नहीं है। यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि स्वयम्भू आजीवन गृहस्थ ही रहे मुनि नहीं बने फिर भी उनका ज्ञान गाम्भीर्य, विद्वत्ता, धार्मिक सहिष्णुता और उदारता आदि ऐसे गुण हैं जो उन्हें एक विशिष्ट पुरुष की श्रेणी में लाकर खड़ा कर देते हैं।

जहाँ तक स्वयम्भू के व्यक्तित्व का प्रश्न है वे आत्मश्लाधा एवं चाटुकारिता से दूर रहने वाले कवि हैं। ये ही कारण हैं कि उन्होंने स्वत: अपनी विशेषताओं का कोई परिचय नहीं दिया यहाँ तक कि उन्होंने अपने आश्रयदाता राष्ट्रकूट राजा ध्रुव और उनके सामन्त धनञ्जय की भी कोई स्तुति नहीं की। यद्यपि वे उनके प्रति कृतज्ञता का ज्ञापन अवश्य करते हैं और अपने को उनका आश्रित बताते हैं मात्र यही नहीं, उन्होंने अपनी दोनों पत्नियों-अमृताम्बा और आदित्याम्बा के प्रति भी अपनी कृतज्ञता ज्ञापित की है। उनमें विनम्रता अपनी चरम बिन्दु पर परिलक्षित होता है। वे अपने आप को अज्ञानी और कुकवि तक भी कह देते हैं। उन्होंने इस तथ्य को भी स्पष्ट किया है कि यह साहित्य साधना वे पाण्डित्य प्रदर्शन के लिए न करके मात्र आत्म अभिव्यक्ति की भावना से कर रहे हैं। यही कारण है कि उनकी रचनाओं में कृत्रिमता न होकर एक सहजता है।

यद्यपि उनमें पाण्डित्य प्रदर्शन की कोई एक भावना नहीं है फिर भी उनके काव्य में सरसता और जीवन्तता है। यद्यपि वे आजीवन गृहस्थ ही रहे फिर भी उनकी रचनाओं में जो आध्यात्मिक ललक है वह उन्हें गृहस्थ होकर भी सन्त के रूप में प्रतिष्ठित करती है। वस्तुत: उनके काव्य में जो सहज आत्मभिव्यक्ति है उसी ने उन्हें एक महान् कवि बना दिया है। महापण्डित राहुल सांस्कृत्यायन ने उन्हें हिन्दी कविता के प्रथम युग का सबसे बड़ा कवि माना है। वे भारत के गिने-चुने कवियों में एक हैं।

स्वयम्भू की रचनाएँ

स्वयम्भू की ज्ञात रचनाएँ निम्न ६ हैं— (१) पउमचरिउ, (२) स्वयम्भू छन्द, (३) रिट्ठनेमिचरिउ, (४) सुव्वचरिउ, (५) सिरिपञ्चमीचरिउ, (६) अपभ्रंश व्याकरण।

इनमें प्रथम दो प्रकाशित हो चुके हैं, तीसरा भी प्रकाशन की प्रक्रिया में है किन्तु शेष तीन अभी तक अनुपलब्ध हैं। इनके सम्बन्ध में अभी कुछ कहना कठिन है। किन्तु आशा की जा सकती है कि भविष्य में किसी न किसी ग्रन्थ भण्डार में इनकी प्रतियाँ उपलब्ध हो सकेगीं। उनके व्यक्तित्व के वैशिष्ट्य के सम्बन्ध में डॉ० किरण सिपानी ने विस्तृत चर्चा और समीचीन समीक्षा भी प्रस्तुत है।

सन्दर्भ

१. एह रामकह-सरि सोहन्ती। गणहरदेवहिं दिट्ठ वहन्ती।
पच्छह इन्दभूह आयरिएं। पुणु धम्मेण गुणालंकरिएं।।
पुगु पहवें संसाराराएं। कित्तिहरेणं अणुत्तरवाएं।
पुणु रविसेणायरिय-पसाएं। वुद्धिएं अवगाहिय कइराएं। — पउमचरिउं १/६-९।

२. संयभू पदडीबद्धकर्त्ता आपलीसंघीय। — **महापुराण** (टिप्पणयुक्त) पृष्ठ ९।

३. **जैन साहित्य और इतिहास**, पृष्ठ १९७।

४. **पउमचरिउं**, सं०-डॉ० हरिवल्लभ भयाणी, सिंघी जैन ग्रन्थमाला, ग्रन्थांक ३४, भूमिका (अंग्रेजी), पृ० १३।

५. वही, पृ० ९।

६. स्वयंभू पावंडीबद्ध रामायण कर्ता आपीसंघीय। — **महापुराण**, १/९/५टिप्पण।

७. पउमचरिउं, सं०डॉ० हरिवल्लभ भयाणी, भूमिका (अंग्रेजी) पृ० १३-१५।



जैन परम्परा में काशी

जैन परम्परा में प्राचीनकाल से ही काशी का महत्त्वपूर्ण स्थान माना जाता रहा है। उसे चार तीर्थङ्करों— सुपार्श्व, चन्द्रप्रभ, श्रेयांस और पार्श्व की जन्मभूमि होने का गौरव प्राप्त है। अयोध्या के पश्चात् अनेक तीर्थङ्करों की जन्मभूमि माने जाने का गौरव केवल वाराणसी को ही मिला है। सुपार्श्व और पार्श्व का जन्म वाराणसी में, चन्द्रप्रभ की जन्म चन्द्रपुरी में, जो कि वाराणसी से १५ किलोमीटर पूर्व में गंगा किनारे स्थित है और श्रेयांस का जन्म सिंहपुरी— वर्तमान सारनाथ में माना जाता है। यद्यपि इनमें तीन तीर्थङ्कर प्राक् ऐतिहासिक काल के हैं किन्तु पार्श्व की ऐतिहासिकता को अमान्य नहीं किया जा सकता है। ऋषिभाषित (ई०पू० तीसरी शताब्दी)[१], आचाराङ्ग (द्वितीय-श्रुतस्कन्ध)[२], भगवती,[३] उत्तराध्ययन[४] और कल्पसूत्र (लगभग प्रथम शताब्दी ईसा पूर्व)[५] में पार्श्व के उल्लेख आए हैं। कल्पसूत्र और जैनागमों में उन्हें पुरुषादानीय[६] कहा गया है। अंगुत्तरनिकाय में पुरुषादानीय[७] शब्द आया है। उन्हें वाराणसी के राजा अश्वसेन का पुत्र बताया गया है तथा उनका काल ई०पू० नवीं-आठवीं शताब्दी माना गया है।[८] अश्वसेन की पहचान पुराणों में उल्लेखित हर्यश्व से की जा सकती है।[९] पार्श्व के समकालीन अनेक व्यक्तित्व वाराणसी से जुड़े हुए हैं। आर्यदत्त उनके प्रमुख शिष्य थे।[१०] पुष्पचूला प्रधान आर्या थी।[११] सुव्रत प्रभृति अनेक गृहस्थ उपासक[१२] और सुनन्दा प्रभृति अनेक गृहस्थ उपासिकायें[१३] उनकी अनुयायी थीं। उनके प्रमुख गणधरों में सोम का उल्लेख है। सोम वाराणसी के एक विद्वान् ब्राह्मण के पुत्र थे।[१४] सोम का उल्लेख ऋषिभाषित में भी आता है।[१५] जैन परम्परा में पार्श्वनाथ के आठ गण और आठ गणधर माने गये हैं।[१६] मोतीचन्द्र ने चार गण और चार गणधरों का उल्लेख किया है वह भ्रान्त एवं निराधार है।[१७] वाराणसी में पार्श्व और कमठ तापस के विवाद की चर्चा जैन कथा साहित्य में है।[१८] बौधायन धर्मसूत्र में 'पारशवः' शब्द है, सम्भवतः उसका सम्बन्ध पार्श्व के अनुयायियों से हो; यद्यपि मूल प्रसंग वर्णसंकर का है।[१९] पार्श्व के समीप इला, सतेरा, सौदामिनी, इन्द्रा, धन्ना, विद्युता आदि वाराणसी की श्रेष्ठि-पुत्रियों के दीक्षित होने का उल्लेख ज्ञाताधर्मकथा में (ईसा की प्रथम शती) आता है।[२०] उत्तराध्ययन काशीराज के भी दीक्षित होने की सूचना देता है।[२१] काशीराज का उल्लेख महावग्ग व महाभारत में भी उपलब्ध है।[२२] अन्तकृतदशांग से काशी के राजा अलक्ष (अलक्ख) अलर्क के महावीर के पास दीक्षित होने की सूचना मिलती है।[२३] अलर्क के अतिरिक्त शंख, कटक, धर्मरुचि नामक काशी के राजाओं के उल्लेख जैन कथा साहित्य में हैं

किन्तु ये सभी महावीर और पार्श्व के पूर्ववर्तीकाल के बताये गये हैं। अत: इनकी ऐतिहासिकता के सम्बन्ध में कुछ कह पाना कठिन है। महावीर के समकालीन काशी के राजाओं में अलर्क अलक्ष के अतिरिक्त जितशत्रु का उल्लेख भी उपासकदशाङ्ग में मिलता है।[२४] किन्तु जितशत्रु का एकसा उपाधिपरक नाम है जो जैन परम्परा में अनेक राजाओं को दिया गया है। अत: इस नाम के आधार पर ऐतिहासिक निष्कर्ष निकालना कठिन है। महावीर के इस प्रमुख गृहस्थ उपासकों में चूलनीपिता और सुरादेव वाराणसी के माने गये हैं, दोनों ही प्रतिष्ठित व्यापारी रहे हैं। उपासकदशाङ्ग इनके विपुल वैभव और धर्मनिष्ठा का विवेचन करता है।[२५] महावीर स्वयं वाराणसी आये थे।[२६] उत्तराध्ययनसूत्र में हरिकेशी और यज्ञीय नामक अध्याय के पात्रों का सम्बन्ध भी वाराणसी से ही है। दोनों में जातिवाद और कर्मकाण्ड पर करारी चोट की गई है।[२७] पार्श्वनाथ के युग से वर्तमान काल तक जैन परम्परा को अपने अस्तित्व के लिए वाराणसी में कठिन संघर्ष करने पड़े हैं। प्रस्तुत निबन्ध में उन सबकी एक संक्षिप्त चर्चा है। किन्तु इसके पूर्व जैन आगमों में वाराणसी की भौगोलिक स्थिति का जो चित्रण उपलब्ध है उसे दे देना भी आवश्यक है।

जैन आगम प्रज्ञापना में काशी की गणना एक जनपद के रूप में की गई है और वाराणसी को उसकी राजधानी बताया गया है। काशी की सीमा पश्चिम में वत्स, पूर्व में मगध, उत्तर में विदेह और दक्षिण में कोशल बताया गया है। बौद्ध ग्रन्थों में काशी के उत्तर में कोशल को बताया गया है। ज्ञाताधर्मकथा में वाराणसी के उत्तर-पूर्व दिशा में गंगा की स्थिति बताई गयी है। वहीं मृतगङ्गातीरद्रह (तालाब) भी बताया गया है।[२८] यह तो सत्य है कि वाराणसी के निकट गंगा उत्तर-पूर्व होकर बहती है। वर्तमान में वाराणसी के पूर्व में गंगा तो है किन्तु किसी भी रूप में गंगा की स्थिति वाराणसी के उत्तर में सिद्ध नहीं होती है। मात्र एक ही विकल्प है, वह यह कि वाराणसी की स्थिति राजघाट पर मानकर गंगा का नगर के पूर्वोत्तर अर्थात् ईशानकोण में स्वीकार किया जाये तो ही इस कथन की संगति बैठती है। उत्तराध्ययनचूर्णि में 'मयंग' शब्द की व्याख्या मृतगंगा के रूप में की गई है— इससे यह ज्ञात होता है कि गंगा की कोई ऐसी धारा भी थी जो कि नगर के उत्तर-पूर्व होकर बहती थी किन्तु आगे चलकर यह धारा मृत हो गई अर्थात् प्रवाहशील नहीं रही और इसने एक द्रह का रूप ले लिया। यद्यपि मोतीचन्द्र ने इसकी सूचना दी है किन्तु इसका योग्य समीकरण अभी अपेक्षित है। गंगा की इस मृतधारा की रचना जैनागमों और चूर्णियों के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं उपलब्ध नहीं है। यद्यपि प्राकृत शब्द मयंग्र का एक रूप मातंग भी होता है ऐसी स्थिति में उसके आधार पर उसका एक अर्थ गंगा के किनारे मातंगों की बस्ती के निकटवर्ती तालाब से भी हो सकता है। उत्तराध्ययननिर्युक्ति में उसके समीप मातंगों (श्वपाकों) की बस्ती स्वीकृत की गई है।[२९] जैनागमों में वाराणसी के समीप आश्रमपद (कल्पसूत्र)[३०], कोष्टक

(उपासकदशांग)[३१] अम्बशालवन, (निरयावलि)[३२] काममहावन, (अन्तकृतद्दशांग)[३३] और तिंदुक (उत्तराध्ययननिर्युक्ति)[३४] नामक उद्यानों एवं वनखण्डों के उल्लेख हैं। औपपातिकसूत्र से गंगा के किनारे बसने वाले अनेक प्रकार के तापसों की सूचना हमें उपलब्ध होती है— विस्तर भय से यहाँ उन सबका उल्लेख आवश्यक नहीं है किन्तु इससे उस युग की धार्मिक स्थिति का पता चल जाता है।[३५]

जैनगमों से हमें वाराणसी का शिव की नगरी के रूप में कहीं उल्लेख नहीं मिलता है— मात्र १४वीं शताब्दी में विविधतीर्थकल्प में इसका उल्लेख है, जबकि यहाँ यक्षपूजा के प्रचलन के प्राचीन उल्लेख मिलते हैं। उत्तराध्ययननिर्युक्ति में वाराणसी के उत्तर-पूर्व दिशा में तिंदुक उद्यान में गण्डी यक्ष के यक्षायतन का उल्लेख है। यही यक्ष हरिकेशिबल नामक चाण्डाल जाति के जैन श्रमण पर प्रसन्न हुआ था। उत्तराध्ययनसूत्र (ईसा-पूर्व) और उसकी निर्युक्ति में यह कथा विस्तार से दी गई है। हरिकेशिबल मुनि भिक्षार्थ यज्ञमण्डप में जाते हैं, चाण्डाल जाति के होने के कारण मुनि को यज्ञमण्डप से भिक्षा नहीं दी जाती है और उन्हें वहाँ से मारकर निकाला जाता है। यक्ष कुपित होता है। सभी क्षमा माँगते हैं। हरिकेशि सच्चे यज्ञ का स्वरूप स्पष्ट करते हैं आदि।[३६] प्रस्तुत कथा से यह निष्कर्ष अवश्य निकलता है कि यक्ष-पूजा का श्रमण परम्परा में उतना विरोध नहीं था जितना कि हिंसक यज्ञों के प्रति था। उत्तराध्ययन की यज्ञ की यह नवीन आध्यात्मिक परिभाषा हमें महाभारत में मिलती है। हो सकता है कि हरिकेशि के इसी घटना के कारण वाराणसी का यह गण्डीयक्ष हरिकेशि यक्ष के नाम से जाना जाने लगा हो। मत्स्यपुराण में हरिकेशि यक्ष की कथा वर्णित है जिसमें उसे सात्विकवृत्ति का और तपस्वी बताया गया है किन्तु उसे शिवभक्त के रूप में दर्शित किया गया है।[३७] उत्तराध्ययन की कथा मत्स्यपुराण की अपेक्षा प्राचीन है। कथा का स्रोत एक है और उसे अपने-अपने धर्मों में रूपान्तरित किया गया है। यक्ष पूजा के प्रसंग की चर्चा करते हुए डॉ० मोतीचन्द्र ने उत्तराध्ययन के ३/१४ और १६/१६ ऐसे दो सन्दर्भ दिये हैं। किन्तु वे दोनों ही भ्रान्त हैं।[३८] हरिकेशिबल चाण्डाल-श्रमण और उसके सहायक यक्ष का विवरण उत्तराध्ययन के बारहवें अध्याय में हैं। गण्डितिंदुकयक्ष का नाम पूर्वक उल्लेख उत्तराध्ययन निर्युक्ति में है।[३९]

जैनधर्म प्रारम्भ से ही कर्मकाण्ड और जातिवाद का विरोधी रहा है और उनके इस विरोध की तीन घटनाएँ वाराणसी के साथ ही जुड़ी हुई हैं। प्रथम घटना— पार्श्वनाथ और कमठ तापस के संघर्ष की है; दूसरी घटना हरिकेशिबल की याज्ञिकों से विरोध की है जिसमें जातिवाद और हिंसक यज्ञों का खण्डन है और तीसरी घटना जयघोष और विजयघोष के बीच संघर्ष की है। इसमें भी सदाचारी व्यक्ति को सच्चा ब्राह्मण कहा गया है और वर्णव्यवस्था का सम्बन्ध जन्म के स्थान पर कर्म से बताया गया है।

पार्श्व के युग में ही हमें जैन साहित्य में इन संघर्षों के कुछ उल्लेख मिलते हैं। वस्तुत: ये संघर्ष मुख्यत: कर्मकाण्डीय परम्परा को लेकर थे। जैसा कि सुविदित है कि जैन परम्परा हमेशा कर्मकाण्डों का विरोध करती रही। उसका मुख्य बल आन्तरिक शुद्धि संयम और ज्ञान का रहा है। पार्श्वनाथ वाराणसी के राजा अश्वसेन के पुत्र थे। पार्श्व को अपने बाल्यकाल में सर्वप्रथम उन तापसों से संघर्ष करना पड़ा जो देहदण्डन को धार्मिकता का समस्त उत्स मान बैठे थे और अज्ञानयुक्त देहदण्डन को ही धर्म के नाम पर प्रसारित कर रहे थे। पार्श्वनाथ के समय में कमठ की एक तापस के रूप में बहुत प्रसिद्धि थी। यह पंचाग्नि तप करता था। उसके पंचाग्नि तप में ज्ञात या अज्ञात रूप से अनेक जीवों की हिंसा होती थी। पार्श्व ने उसे यह समझाने का प्रयास किया कि कर्मकाण्ड ही धर्म नहीं है, उसमें विवेक और आत्मसंयम आवश्यक है। किन्तु आत्मसंयम का तात्पर्य भी मात्र देहदण्डन नहीं है। पार्श्व धार्मिकता के क्षेत्र में अन्ध-विश्वास और जड़क्रियाकाण्ड का विरोध करते हैं और इस प्रकार हम देखते हैं कि ऐतिहासिक दृष्टि से जैन परम्परा को अपनी स्थापना के लिए सर्वप्रथम जो संघर्ष करना पड़ा उसका केन्द्र वाराणसी ही था। पार्श्वनाथ और कमठ के संघर्ष की सूचना हमें जैन साहित्य के तीर्थोद्गालिक[४०] तथा आवश्यकनिर्युक्ति[४१] में मिलती है। पार्श्वनाथ और कमठ का संघर्ष वस्तुत: ज्ञानमार्ग और देहदण्डन कर्मकाण्ड का संघर्ष था। कमठ और पार्श्व के अनुयायियों के विवाद की सूचना बौधायनधर्मसूत्र में भी है। जैन परम्परा और ब्राह्मण परम्परा के बीच दूसरे संघर्ष की सूचना हमें उत्तराध्ययनसूत्र से प्राप्त होती है। यह संघर्ष मूलत: जातिवाद या ब्राह्मणवर्ग की श्रेष्ठता को लेकर था। उत्तराध्ययन एवं उनकी निर्युक्ति से हमें यह सूचना प्राप्त होती है कि हरिकेशिबल और रुद्रदेव के बीच एवं जयघोष और विजयघोष के बीच होने विवादों का मूल केन्द्र वाराणसी ही था।[४२] ये चर्चाएँ आगम ग्रन्थों और उनकी निर्युक्तियों और चूर्णियों में उपलब्ध हैं और ईसापूर्व की शताब्दियों में वाराणसी में जैनों की स्थिति की सूचना देती हैं।

गुप्तकाल में वाराणसी में जैनों की क्या स्थिति थी इसका पूर्ण विवरण तो अभी खोज का विषय है। हो सकता है कि भाष्य और चूर्णी साहित्य से कुछ तथ्य सामने आयें। पुरातात्त्विक प्रमाणों; राजघाट से प्राप्त ऋषभदेव की मूर्ति और पहाड़पुर से प्राप्त गुप्त संवत् १५८ (४७९ ई०) के एक ताम्रपत्र से इतना तो निश्चित हो जाता है कि उस समय यहाँ जैनों की बस्ती थी। यह ताम्रपत्र यहाँ स्थिति बटगोहली विहार नामक जिन-मन्दिर की सूचना देता है।

इस विहार का प्रबन्ध आचार्य गुणनन्दि के शिष्य करते थे। आचार्य गुणनन्दि पंचस्तूपान्वय में हुए हैं।[४३] पंचस्तूपान्वय श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्पराओं से भिन्न यापनीय सम्प्रदाय से सम्बन्धित था। इस ताम्रपत्र से यह भी ज्ञात हो जाता है कि मथुरा के समान वाराणसी में भी यापनीयों का प्रभाव था।

गुप्तकाल की एक अन्य घटना जैन आचार्य समन्तभद्र से सम्बन्धित है। ऐसा लगता है कि गुप्तकाल में वाराणसी में ब्राह्मणों का एकछत्र प्रभाव हो गया था। जैन अनुश्रुति के अनुसार समन्तभद्र को, जो कि जैन परम्परा की चौथी-पाँचवी शताब्दी के एक प्रकाण्ड विद्वान् थे, भस्मक रोग हो गया था और इसके लिए वे दक्षिण से चलकर वाराणसी आये थे। अनुश्रुति के अनुसार उन्होंने यहाँ शिव-मन्दिर में पौरोहित्य-कर्म किया और शिव के प्रचुर नैवेद्य से क्षुधा-तृप्ति करते रहे। किन्तु एक बार वे नैवेद्य को ग्रहण करते हुए पकड़े गये और कथा के अनुसार उन्होंने अपनी प्रतिष्ठा की रक्षा के लिए स्वयम्भूस्तोत्र की रचना और शिवलिंग से चन्द्रप्रभ की चतुर्मुखी प्रतिमा प्रकट की।[४४]

यह कथा एक अनुश्रुति ही है; किन्तु इससे दो-तीन बातें फलित होती हैं। प्रथम तो यह कि समन्तभद्र को अपनी ज्ञान-पिपासा को शान्त करने के लिए अन्य दर्शनों के ज्ञान को अर्जित करने के लिए सुदूर दक्षिण से चलकर वाराणसी आना पड़ा, क्योंकि उस समय भी वाराणसी विद्या का केन्द्र माना जाता था। उनके द्वारा शिव मन्दिर में पौरोहित्य कर्म को स्वीकार करना सम्भवत: यह बताता है कि या तो उन्हें जैन मुनि के वेश में वैदिक परम्परा के दर्शनों का अध्ययन कर पाना सम्भव न लगा हो अथवा यहाँ पर जैनों की बस्ती इतनी नगण्य हो गयी हो कि उन्हें अपनी आजीविका के लिए पौरोहित्य-कर्म स्वीकार करना पड़ा हो। वस्तुत: उनका यह छद्मवेशधारण विद्या अर्जन के लिए ही हुआ होगा, क्योंकि ब्राह्मण पंडित नास्तिक माने जाने वाले नग्न जैन मुनि को विद्या प्रदान करने को सहमत नहीं हुए होंगे। इस प्रकार जैनों को विद्या अर्जन के लिए भी वाराणसी में संघर्ष करना पड़ा है।

जैसा कि हमने पूर्व में उल्लेख किया है गुप्तकाल में भी काशी में जैनों का अस्तित्व रहा है। यद्यपि यह कहना अत्यन्त कठिन है कि उस काल में इस नगर में जैनों का कितना तथा क्या प्रभाव था? पुरातात्विक साक्ष्य हमें केवल यह सूचना देते हैं कि उस समय यहाँ जैन मन्दिर थे। काशी से जो जैन मूर्तियाँ उपलब्ध हुई हैं उनमें ईसा की लगभग छठीं शताब्दी की महावीर की मूर्ति महत्त्वपूर्ण है। यह मूर्ति स्थानीय भारत कला भवन में संरक्षित है (क्रमांक १६२)। राजघाट से प्राप्त नेमिनाथ की मूर्ति लगभग सातवीं शताब्दी की मानी जाती है। यह मूर्ति भी भारत कला भवन में है। अजितनाथ की भी लगभग सातवीं शताब्दी की एक मूर्ति वाराणसी में उपलब्ध हुई है जो वर्तमान में राजकीय संग्रहालय, लखनऊ में है (क्रमांक ४९-१९९)। इसी प्रकार पार्श्वनाथ की भी लगभग आठवीं शताब्दी की एक मूर्ति, जो कि राजघाट से प्राप्त हुई थी, राजकीय संग्रहालय लखनऊ में रखी है। इससे यह प्रतिफलित होता है कि ईसा की पाँचवी-छठी शताब्दी से लेकर आठवीं शती तक वाराणसी में जैन मन्दिर और मूर्तियाँ थीं। इसका तात्पर्य यह भी है कि उस काल में यहाँ जैनों की बस्ती थी।

पुन: नवीं, दसवीं और ग्यारहवीं शताब्दियों के भी जैन पुरातात्विक अवशेष हमें वाराणसी में मिलते हैं। नवी शताब्दी की विमलनाथ की एक मूर्ति सारनाथ संग्रहालय में उपलब्ध है (क्रमांक २३६)। पुन: राजघाट से ऋषभनाथ की एक दसवीं शताब्दी की मूर्ति तथा ग्यारहवीं शताब्दी की तीर्थंकर मूर्ति का शिरोभाग उपलब्ध हुआ है। ये मूर्तियाँ भी भारत कला भवन में उपलब्ध हैं। (क्रमांक १७६ तथा १९७)। उपरोक्त अधिकांश मूर्तियों के कालक्रम का निर्धारण डॉ० मारुतिनन्दन प्रसाद तिवारी ने अपने लेख "काशी में जैनधर्म और कला" में किया है।[४५] हमने उन्हीं के आधार पर यह कालक्रम प्रस्तुत किया है। पुन: हमें बारहवीं, तेरहवीं और चौदहवी शताब्दी की वाराणसी के सम्बन्ध में प्रबन्धकोश और विविधतीर्थकल्प से सूचना मिलती है। प्रबन्धकोश में वाराणसी के राजा गोविन्दचन्द्र और उनके पुत्र विजयचन्द्र[४६] तथा तेजपाल-वस्तुपाल द्वारा वाराणसी तक के विविध जिन मन्दिरों के जीर्णोद्धार के उल्लेख हैं।[४७] विविधतीर्थकल्प में वाराणसी के सन्दर्भ में जो कहा गया है, उसमें अधिकांश तो आगमकालीन कथाएँ ही हैं किन्तु विविधतीर्थकल्प के कर्ता ने इसमें हरिश्चन्द्र की कथा को भी जोड़ दिया है। इस ग्रन्थ से चौदहवीं शताब्दी की वाराणसी के सम्बन्ध में दो-तीन सूचनाएँ मिलती हैं।[४८] प्रथम तो यह कि यह एक विद्या नगरी के रूप में विख्यात थी और दूसरे परिबुद्धजनों (संन्यासियों) एवं ब्राह्मणों से परिपूर्ण थी। वाराणसी के सन्दर्भ में विविधतीर्थकल्पकार ने जो सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण सूचना दी है वह यह कि वाराणसी उस समय चार भागों में विभाजित थी। देव वाराणसी, जहाँ विश्वनाथ का मन्दिर था और वहीं जिनचतुर्विंशति पट्ट की पूजा भी होती थी। दूसरी राजधानी वाराणसी थी जिसमें यवन रहते थे। तीसरी मदन वाराणसी और चौथी विजय वाराणसी थी। इसके साथ ही इन्होंने वाराणसी में पार्श्वनाथ के चैत्य, सारनाथ के धर्मेक्षा नामक स्तूप और चन्द्रावती में चन्द्रप्रभ के जिनालय का भी उल्लेख किया है। उस समय वाराणसी में बन्दर इधर-उधर कूदा करते थे, पशु भी घूमा करते थे और धूर्त भी निःसंकोच टहलते थे आज भी यही स्थिति दिखाई देती है।[४९] जिनप्रभ के इस वर्णन से ऐसा लगता है कि उन्होंने वाराणसी का आँखों देखा वर्णन किया है। देव वाराणसी को विश्वनाथ मन्दिर के आस-पास के क्षेत्र से जोड़ा जा सकता है। राजधानी वाराणसी का सम्बन्ध श्री मोतीचन्द्र ने आदमपुर और जैतपुरा के क्षेत्रों से बताया है। श्री मोतीचन्द्र ने मदन वाराणसी को गाजीपुर की जमनिया तहसील में स्थित तथा विजय वाराणसी को मिर्जापुर के विजयगढ़ से सम्बन्धित माना है किन्तु मेरी दृष्टि से मदन वाराणसी और विजय वाराणसी बनारस के ही अंग होने चाहिए। कहीं मदन वाराणसी आज का मदनपुरा तो नहीं था? इसी प्रकार विजय वाराणसी वर्तमान भेलूपुर के आस-पास तो स्थित नहीं थी। विद्वानों से अपेक्षा है कि वे इस सम्बन्ध में अधिक गवेषणा कर सूचना देंगे।

पन्द्रहवीं-सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दियों में वाराणसी में जैनों की स्थिति के

सम्बन्ध में भी हमें पुरातात्विक एवं साहित्यिक, दोनों ही प्रकार के साक्ष्य मिलते हैं। प्रथम तो यहाँ के वर्तमान मन्दिरों की अनेक प्रतिमायें इसी काल की हैं। दूसरे इस काल के अनेक हस्तलिखित ग्रन्थ भी वाराणसी के जैन-भण्डारों में उपलब्ध हैं। तीसरे इस काल की वाराणसी के सम्बन्ध में कुछ संकेत हमें कविवर बनारसीदास के अर्धकथानक से मिल जाता है। बनारसीदास, जो मूलतः आगरा के रहने वाले थे, अपने व्यवसाय के लिए काफी समय बनारस में रहे और उन्होंने अपनी आत्मकथा 'अर्धकथानक' में उसका उल्लेख भी किया है। उनके उल्लेख के अनुसार १५९८ ई० में जौनपुर के सूबेदार नवाब किलच खां ने वहाँ के सभी जौहरियों को पकड़कर बन्द कर दिया था। उन्होंनें अर्धकथानक में विस्तार से सोलहवीं शताब्दी के बनारस का वर्णन किया है।[५०] यह ग्रन्थ अद्यावधि प्रकाशित है।

सत्रहवीं शताब्दी में उपाध्याय यशोविजय नामक श्वेताम्बर जैन मुनि गुजरात से चलकर बनारस अपने अध्ययन के लिए आये थे। वाराणसी सदैव से विद्या का केन्द्र रही और जैन विद्वान् अन्य धर्म-दर्शनों के अध्ययन के लिए समय-समय पर यहाँ आते रहे। यद्यपि यह भी विचारणीय है कि इस सम्बन्ध में उन्हें अनेक बार कठिनाईयों का भी सामना करना पड़ा। सोलहवीं, सत्रहवीं एवं अठारहवीं शताब्दियों की जैन मूर्तियाँ तथा हस्तलिखित ग्रन्थ वाराणसी में उपलब्ध हैं, यद्यपि विस्तृत विवरण का अभाव ही है।

उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में वाराणसी में जैनों की संख्या पर्याप्त थी। विशप हेबर ने उस समय जैनों के पारस्परिक झगड़ों का उल्लेख किया है। सामान्यतया जैन मन्दिरों में अन्यों का प्रवेश वर्जित था। विशप हेबर को प्रिंसेप और मेकलियड के साथ जैन मन्दिर में प्रवेश की अनुमति मिली थी। उसने अपने जैन मन्दिर जाने एवं वहाँ जैन गुरु से हुई उसकी भेंट का तथा स्वागत का विस्तार से उल्लेख किया है (देखें— काशी का इतिहास, मोतीचन्द्र, पृ० ४०२-४०३)।

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त और बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक दशक में जैन आचार्यों ने इस विद्या नगरी को जैन विद्या के अध्ययन का केन्द्र बनाने के प्रयत्न किये। चूंकि ब्राह्मण अध्यापक सामान्यतया जैन को अपनी विद्या नहीं देना चाहते थे अतः उनके सामने दो ही विकल्प थे; या तो छद्म वेष में रहकर अन्य धर्म-दर्शनों का ज्ञान प्राप्त करें अथवा जैन विद्या के अध्ययन-अध्यापन का कोई स्वतन्त्र केन्द्र स्थापित करें। गणेशवर्णी और विजयधर्मसूरि ने यहाँ स्वतन्त्ररूप से जैन विद्या के अध्ययन के लिए पाठशालाएँ खोलने का निर्णय लिया। उसी के परिणामस्वरूप अंग्रेजी कोठी में यशोविजय पाठशाला और भदैनी में स्याद्वाद महाविद्यालय की नींव रखी गयी। श्वेताम्बर परम्परा के दिग्गज जैन विद्वान् पं० सुखलालजी संघवी और पं० बेचरदास जी आदि जहाँ यशोविजय पाठशाला की उपज हैं वहीं दिगम्बर परम्परा के मूर्धन्य विद्वान् पं०

कैलाशचन्द्रजी आदि स्याद्वाद महाविद्यालय की उपज हैं। दिगम्बर परम्परा के आज के अधिकांश विद्वान् स्याद्वाद महाविद्यालय से ही निकले हैं। यशोविजय पाठशाला यद्यपि अधिक समय तक नहीं चल सकी किन्तु उसने जो विद्वान् तैयार किये उनमें पं० सुखलालजी काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में जैन-दर्शन के अध्यापक बने और उन्होंने अपनी प्रेरणा से पार्श्वनाथ विद्याश्रम को जन्म दिया, जो कि आज वाराणसी में जैन विद्या के उच्च अध्ययन का एक प्रमुख केन्द्र बन चुका है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि पार्श्वनाथ के युग के लेकर वर्तमानकाल तक लगभग अट्ठाइस शताब्दियों के सुदीर्घ कालावधि में वाराणसी में जैनों का निरन्तर अस्तित्व रहा है और इस नगर ने जैन विद्या और कला के विकास में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान किया है।

संदर्भ :

१. **ऋषिभाषित**, अध्याय, ३१।
२. **आचारांगसूत्र**, २/१५/९४५।
३. **भगवतीसूत्र**, पृ० २३/१।
४. **उत्तराध्ययनसूत्र**, २३/१।
५. **कल्पसूत्र**, १४८।
६. **वही**, १४८।
७. **अंगुत्तरनिकाय**, ७/२९०।
८. **कल्पसूत्र**, १४८।
९. मोतीचन्द्र, **काशी का इतिहास**, पृ० २२।
१०. **कल्पसूत्र**, १५७।
११. **वही**, १५७।
१२. **वही**, १५७।
१३. **वही**, १५७।
१४. **वही**, १५६।
१५. **ऋषिभाषित**, अध्याय ४२।
१६. **कल्पसूत्र**, १५६।
१७. मोतीचन्द्र, **काशी का इतिहास**, पृ० ३८।

१८. **चउपन्नमहापुरुषचरियं,** २१६।

१९. **बौधायनधर्मसूत्र,** १/९/१७/३।

२०. **ज्ञाताधर्मकथा,** २/३/२-६।

२१. **उत्तराध्ययनसूत्र,** १८/४९।

२२. **अन्तकृतदशांग,** ६/९६।

२३. **मत्स्यपुराण,** १८०/६८।

२४. **उपासकदशांग,** ४/१।

२५. **वही,** ४/१।

२६. **आवश्यकनिर्युक्ति,** ५१७ तथा **उपासकदशांग,** ४/१।

२७. **उत्तराध्ययनसूत्र,** अध्याय १२ और २५।

२८. तेणं कालेणं तेणं समएणं वाराणसी नाम णयरी होत्था, वन्नओ। तीसेणं वाणारसीए नयरीए बहिया उत्तर-पुरच्छिमे दिसिभागे गंगाए महानदीए मयंग तीरद्दहे नामं दहे होत्था। — **ज्ञाताधर्मकथा,** ४/२!

२९. **उत्तराध्ययननिर्युक्ति,** अध्याय १२, पृ० २२५।

३०. **कल्पसूत्र,** १५३।

३१. **उपासकदशांग,** ३/१२४, **आवश्यकनिर्युक्ति,** १३०२।

३२. **निरयावलि,** ३/३।

३३. **अन्तकृद्दशांग,** ६/१६।

३४. **उत्तराध्ययननिर्युक्ति,** अध्याय १२, पृ० ३५५।

३५. **औपपातिकसूत्र,** ७४।

३६. **उत्तराध्ययनसूत्र,** अध्याय १२।

३७. **मत्स्यपुराण,** १८०/६-२० एवं १८०/८८-९९ उद्धृत काशी का इतिहास, पृ० ३३।

३८. **काशी का इतिहास,** पृ० ३२-३३।

३९. **उत्तराध्ययन निर्युक्ति,** अध्याय १३, पृष्ठ ३५५।

४०. **तीर्थोद्गालिक।**

४१. **आवश्यकनिर्युक्ति।**

४२. **उत्तराध्ययनसूत्र,** अध्याय १२ एवं २५।

४३. **काशी का इतिहास,** पृ० १००।

४४. डॉ० विद्याधर जोहरापुरकर, **वीर शासन के प्रभावक आचार्य,** पृ० ३३।

४५. डॉ० मारुतिनन्दन प्रसाद तिवारी, **काशी में जैनधर्म और कला।**

४६. **प्रबन्धकोश**-हर्षकविप्रबन्ध।

४७. **वही,** वस्तुपालप्रबन्ध।

४८. **विविधतीर्थकल्प,** वाराणसी कल्प।

४९. **वही।**

५०. **अर्धकथानक** उद्धृत, **काशी का इतिहास,** पृ० २१०।



पुण्य की उपादेयता का प्रश्न

लोकमंगल या विश्वकल्याण सभी धर्मों और साधना पद्धतियों का सार है। जैनधर्म में तीर्थङ्कर का, बौद्धधर्म में बोधसत्त्व का, हिन्दूधर्म में अवतार का चरम लक्ष्य लोककल्याण की साधना ही है। लोकमंगल के लिए ही वे धर्म का प्रवर्तन करते हैं। यह लोककल्याण की प्रवृत्ति हीं परोपकार, सत्कर्म, कुशल कर्म, पुण्यकर्म, रक्षा आदि नामों से अभिहित की जाती है। करुणा, सेवा, रक्षा, परपीड़ा की निवृत्ति आदि इसके प्रमुख अंग हैं। दूसरों के दुःख एवं पीड़ा को दूर कर उन्हें सुख और शान्ति प्रदान करना इनका प्रमुख उद्देश्य है। वैयक्तिक-विमुक्ति और आत्म-कल्याण की अपेक्षा भी सामाजिक दृष्टि से यह एक उच्च आदर्श है। इसीलिए बोधिसत्त्व कहते हैं कि दूसरों के दुःख दूर करने में जो सुख मिलता है वह क्या कम है, जिसे छोड़कर वैयक्तिक निर्वाण का प्रयत्न किया जाये। इस प्रकार लोककल्याण के चरम आदर्श की यह उपलब्धि वैयक्तिक-मुक्ति की अपेक्षा भी श्रेष्ठ मानी गई। किन्तु कालान्तर में जब वैयक्तिक मुक्ति की अवधारणा प्रमुख हुई तो लोकमंगल या परोपकार के कार्यों को आत्मसाधना से हेय माना जाने लगा। उन्हें रागात्मक, हिंसा-युक्त और बन्धन का हेतु कहा जाने लगा और इस प्रकार वे अनुपादेय या हेय की कोटि में डाल दिये गये।

समस्या का इतिहास

जैन परम्परा में सर्वप्रथम उमास्वाति ने पुण्य और पाप दोनों को आस्रव के अन्तर्गत वर्गीकृत करके जो विरुद्ध धर्मी थे, उन्हें सजातीय बना दिया। परिणाम स्वरूप पाप के साथ पुण्य की उपादेयता पर प्रश्न चिह्न लगा। उसके बाद आचार्य कुन्दकुन्द ने और विशेषरूप से उनके टीकाकारों ने पुण्य को बन्धनरूप मानकर उसे हेय की कोटि में डाल दिया। इस प्रकार लोकमंगल रूप पुण्यप्रवृत्तियों की उपादेयता एक विवादास्पद विषय बन गई।

वैसे तो इस विवाद के संकेत सूत्रकृतांग जैसे प्राचीन आगम में भी मिलते हैं, जहां इस सम्बन्ध में मुनि को तटस्थ दृष्टि अपनाने के संकेत हैं। वर्तमान युग में दिगम्बर परम्परा में इस विवाद को अधिक बल दिया गया। पूज्य कानजी स्वामी और उनके समर्थक विद्वत् मण्डल की निश्चयनय प्रधान व्याख्याओं के द्वारा। श्वेताम्बर परम्परा में भी आधुनिक युग में यह विवाद मुखर हुआ तेरापंथ परम्परा और अन्य श्वेताम्बर परम्पराओं के बीच। यद्यपि श्रमण जीवन की साधना में हिंसा-युक्त लोकमंगल या

परोपकार के कार्यों के प्रति विधि-निषेध से ऊपर उठकर मध्यस्थ दृष्टि अपनाने के संकेत सूत्रकृताङ्ग जैसे प्राचीन जैनागमों में मिलते हैं। फिर भी सामान्यतया दिगम्बर-श्वेताम्बर मुनिवर्ग प्रेरणा के रूप में और गृहस्थवर्ग यथार्थ में लोक-कल्याणों, समाज-सेवा और परोपकार के कार्यों में रुचि लेता रहा है। चाहे सैद्धान्तिक मान्यता कुछ भी हो, सम्पूर्ण जैन समाज परोपकार और सेवा की इन प्रवृत्तियों में रुचि लेता रहा है। यद्यपि बीसवीं शती के प्रारम्भिक वर्षों में इस प्रश्न को लेकर पक्ष-विपक्ष में कुछ स्वतन्त्र ग्रन्थ भी लिखे गये हैं।

सेवा, दान और परोपकार जैसी पुण्य प्रवृत्तियों की उपादेयता के सम्बन्ध में प्रकीर्ण संकेत तो प्राचीनकाल से लेकर वर्तमान युग तक के अनेक ग्रन्थों में मिलते हैं, इस सम्बन्ध में विद्वानों द्वारा कुछ लेख भी लिखे गये हैं। मैंने भी स्वहित और लोकहित का प्रश्न, 'सकारात्मक अहिंसा' की भूमिका जैसे कुछ लेख लिखे। फिर भी निष्पक्ष दृष्टि से बिना किसी मत या सम्प्रदाय पर टीका टिप्पणी किये मात्र आगमिक और कर्म सिद्धान्त के श्वेताम्बर-दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थों के आधार पर उनका गहन अनुशीलन करके अपनी कृति में पुण्य की उपादेयता के सम्बन्ध में पूज्य पं० श्री कन्हैयालाल जी लोढ़ा ने जो निष्कर्ष प्रस्तुत किये वे न केवल प्रामाणिक हैं, अपितु हमें इस प्रश्न पर पुनर्चिन्तन को बाध्य करते हैं। वस्तुत: समस्या क्या है और उसका दार्शनिक समाधान क्या है, इस प्रश्न पर अग्रिम पृष्ठों में कुछ गम्भीर चर्चा करेंगे।

जैन तत्त्व-मीमांसा में पाप और पुण्य

भारतीय धर्म-दर्शनों में पुण्य और पाप की अवधारणा अति प्राचीन काल से पाई जाती है। इन्हें धर्म-अधर्म, कुशल-अकुशल, शुभ-अशुभ, नैतिक-अनैतिक, कल्याण-पाप आदि विविध नामों से जाना जाता है। जैन धर्म-दर्शन में भी तत्त्वमीमांसा के अन्तर्गत नव तत्त्वों की अवधारणा में पुण्य और पाप का स्वतन्त्र तत्त्व के रूप में उल्लेख हुआ है। हमें न केवल श्वेताम्बर आगमों में, अपितु दिगम्बर परम्परा में आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में भी नवतत्त्वों की यह अवधारणा प्राप्त होती है। इन नवतत्त्वों को नव पदार्थ या नव अर्थ भी कहा है, किन्तु नाम के इस अन्तर से इनकी मूलभूत अवधारणा में कोई अन्तर नहीं पड़ता है। श्वेताम्बर परम्परा में नव तत्त्वों की इस अवधारणा का प्राचीनतम उल्लेख उत्तराध्ययन एवं समवायांग में पाया जाता है। पंचास्तिकायसार नामक ग्रन्थ में इन नव तत्त्वों का नव पदार्थ के रूप में उल्लेख हुआ है।

नवतत्त्वों की इस अवधारणा के अन्तर्गत निम्न नौ तत्त्व माने गए हैं— १. जीव, २. अजीव, ३. पुण्य, ४. पाप, ५. आस्रव, ६. संवर, ७. बन्ध, ८. निर्जरा और ९. मोक्ष।

यहाँ हम देखते हैं कि नवतत्त्वों की इस सूची में पुण्य और पाप को स्वतन्त्र तत्त्व माना गया, किन्तु कालान्तर में आचार्य उमास्वाति ने तत्त्वार्थसूत्र (लगभग ईसा की तीसरी सदी) में इन नवतत्त्वों के स्थान पर सात तत्त्वों का प्रतिपादन किया और पुण्य तथा पाप को स्वतन्त्र न मानकर उन्हें आस्रव का भेद माना।

किन्तु हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि पुण्य और पाप का न केवल आस्रव होता है अपितु उनका बन्ध और विपाक भी होता है। अत: पुण्य और पाप को मात्र आस्रव नहीं माना जा सकता। वस्तुत: तत्त्वार्थसूत्र में उमास्वाति की दृष्टि संक्षिप्तीकरण की रही है, क्योंकि वह ग्रन्थ सूत्र रूप में है। यही कारण है कि उन्होंने न केवल तत्त्वों के सम्बन्ध में अपितु अन्य सन्दर्भों में भी अपनी सूचियों का संक्षिप्तीकरण किया है, जैसे उत्तराध्ययन और कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में वर्णित चतुर्विध मोक्ष-मार्ग के स्थान पर त्रिविध मोक्ष-मार्ग का प्रतिपादन करते हुए तप को चारित्र में ही अन्तर्भूत मान लेना, सप्तनय की अवधारणा में समभिरूढनय एवं एवंभूतनय को शब्दनय के अन्तर्गत मानकर मूल में पाँच नयों की अवधारणा को प्रस्तुत करना आदि। इसी क्रम में उन्होंने पुण्य और पाप को भी आस्रव के अन्तर्गत मानकर नव-तत्त्वों के स्थान पर सात तत्त्वों की अवधारणा प्रस्तुत की है।

ज्ञातव्य है कि जैन दर्शन के इतिहास में कालक्रम में विभिन्न तात्त्विक अवधारणाओं की सूचियों में कहीं संकोच की तो कहीं विस्तार की प्रवृत्ति दिखलाई देती है। इसकी चर्चा पं० दलसुख भाई मालवणिया ने अपनी लघु पुस्तिका 'जैनदर्शन का आदिकाल' में की है। जहाँ तक तत्त्वों की अवधारणा का प्रश्न है इस सन्दर्भ में हमें ऐसा लगता है कि तत्त्वों की संख्या सम्बन्धी सूची संकुचित एवं विस्तारित होती रही है। ज्ञातव्य है कि जैन धर्म दर्शन में तत्त्वों को श्रद्धा का विषय माना गया है। तत्त्वार्थसूत्र (१/३) में तो स्पष्ट रूप से यह कहा गया है कि तत्त्व श्रद्धान ही सम्यक् दर्शन है। किन्तु जिन तत्त्वों पर श्रद्धा रखनी चाहिए अर्थात् उनको अस्ति रूप मानना चाहिए नास्ति रूप नहीं, इसकी चर्चा करते हुए सर्वप्रथम सूत्रकृताङ्ग के द्वितीय श्रुत स्कन्ध के पांचवें अध्ययन में बत्तीस तत्त्वों की एक विस्तृत सूची दी गई है, जो निम्न है—(१) लोक (२) अलोक (३) जीव (४) अजीव (५) धर्म (६) अधर्म (७) बन्ध (८) मोक्ष (९) पुण्य (१०) पाप (११) आस्रव (१२) संवर (१३) वेदना (विपाक) (१४) निर्जरा (१५) क्रिया (१६) अक्रिया (१७) क्रोध (१८) मान (१९) माया (२०) लोभ (२१) प्रेम (राग) (२२) द्वेष (२३) चतुरंगसंसार (२४) सिद्धस्थान (२५) देव (२६) देवी (२७) सिद्धि (२८) असिद्धि (२९) साधु (३०) कल्याण और (३२) पाप (अकल्याण)। सूत्रकृताङ्ग (२/५/७६५-७८)

यहाँ हम देखते हैं कि सोलह युग्मों में बत्तीस तत्त्वों को गिनाया गया है। इन युग्मों में धर्म-अधर्म, पाप-पुण्य और कल्याण-अकल्याण (पाप) ये तीन युग्म ऐसे हैं

जिनमें अर्थ की निकटता है, फिर भी जहाँ धर्म और अधर्म क्रमशः सम्यक् एवं मिथ्या साधना मार्ग के सूचक हैं, वहां पुण्य और पाप क्रमशः सत्कर्म और असत्कर्म के अथवा नैतिक कर्म और अनैतिक कर्म के सूचक हैं। जबकि कल्याण एवं पाप (अकल्याण) का सम्बन्ध उपादेय और हेय से है। फिर भी इनमें किसी सीमा तक अर्थ की जो निकटता है, उसको ध्यान में रखते हुए तत्त्व सम्बन्धी अन्य सूचियों में इन तीन युग्मों में से दो को छाड़कर मात्र पुण्य और पाप को ही स्थान दिया गया। सूत्रकृताङ्ग के ही द्वितीय श्रुतस्कन्ध (२/७/१५) में यह सूची रूप में संकुचित मिलती है। उसमें निम्न १२ तत्त्वों को ही स्वकार किया गया है— (१) जीव (२) अजीव (३) पुण्य (४) पाप (५) आस्रव (६) संवर (७) वेदना (८) निर्जरा (९) क्रिया (१०) अधिकरण (११) बन्ध और (१२) मोक्ष।

ऐसी ही एक अन्य संकुचित सूची आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध के आठवें अध्ययन (उद्देशक १) में मिलती है। इसमें लोक के अस्तित्व-अनस्तित्व सादि-अनादि, ध्रुव (नित्य)-अनित्य, सान्त-अनन्त आदि की चर्चा के साथ-साथ सुकृत-दुष्कृत, कल्याण-पाप, साधु-असाधु, सिद्धि-असिद्धि और नरक-अनरक ऐसे पांच युग्मों में दस तत्त्वों का उल्लेख है।

इसी क्रम में उत्तराध्ययनसूत्र में आते-आते तत्त्वों की इस सूची में पुनः संकोच हुआ और सूत्रकृताङ्ग की १२ तत्त्वों की इस सूची में से वेदना, क्रिया और अधिकरण इन तीन को निकाल देने से केवल नव तत्त्व रह गये। फिर भी यहां तक पुण्य और पाप की स्वतन्त्र तत्त्वों के रूप में स्वीकृति बनी रही। सर्वप्रथम उमास्वाति ने ही इन नव तत्त्वों में से पुण्य और पाप को भी अलग करके अपनी तत्त्व सूची में मात्र सात तत्त्वों को स्वीकृति दी तथा पुण्य और पाप को आस्रव के अन्तर्गत माना।

जब पुण्य और पाप आस्रव बन गये तो उनकी उपयोगिता पर ही प्रश्नचिह्न लगना प्रारम्भ हो गया। क्योंकि जो आस्रव अर्थात् बन्धन का हेतु हो, वह मुक्ति मार्ग के साधक के लिए उपादेय या आचरणीय नहीं माना जा सकता। इसप्रकार पाप को अनुपादेय या हेय मानने के साथ-साथ पुण्य को भी अनुपादेय या हेय मानने की प्रवृत्ति विकसित हुई। जिसके परिणाम स्वरूप लोकमंगल और परोपकार के कार्यों की उपेक्षा की जाने लगी और उन्हें आत्मसाधना की अपेक्षा से हेय या अनुपादेय माना जाने लगा। पुण्य और पाप जब तक स्वतन्त्र तत्त्व थे तब तक वे विरुद्धधर्मी थे, अतः पाप को हेय और पुण्य को उपादेय माना जाता था। क्योंकि वह हेय पाप का विरुद्धधर्मी था, अतः उपादेय था। किन्तु जब वे दोनों आस्रव के भेद मान लिये गये तो वे परस्पर विरुद्धधर्मी या विजातीय न रहकर सजातीय या सहवर्गी बन गये। फलतः पाप के साथ-साथ पुण्य भी हेय की कोटि में चला गया और उसकी उपादेयता पर प्रश्नचिह्न लगाये गये।

पुण्य की उपादेयता पर कैसे लगा प्रश्नचिह्न

वस्तुत: जब आचार्य उमास्वाति ने पुण्य और पाप को आस्रव का अंग मान लिया तो स्वाभाविक रूप से यह समस्या उत्पन्न हुई कि जिसका आस्रव होता है उसका बन्ध भी होता है और जिसका बन्ध होता है उसका विपाक भी होता है। इसप्रकार बन्ध और विपाक की प्रक्रिया से भव-भ्रमण की परम्परा चलती रहती है। पुन: जो भी भव-भ्रमण का हेतु होगा, वह उपादेय नहीं हो सकता।

इस प्रकार पुण्य को आस्रव रूप मानने के परिणामस्वरूप उसको हेय मानने की अवधारणा विकसित हुई। इस अवधारणा को आचार्य कुन्दकुन्द के इस कथन से अधिक बल मिला कि पुण्य और पाप दोनों ही बन्धन के हेतु होने से बेड़ी के समान ही हैं। फिर वह बेड़ी चाहे सोने की हो या फिर लोहे की हो, बन्धन का कार्य तो करती ही है। इस प्रकार जब पाप के साथ-साथ पुण्य को भी समतुला पर रखकर हेय मान लिया तो उसका परिणाम यह हुआ कि अध्यात्मवादी मुमुक्षु साधकों की दृष्टि में पाप के साथ-साथ पुण्य भी अनुपादेय बन गया और परिणाम स्वरूप वे परोपकार और लोकमंगल के कार्यों को भी बन्धन का निमित्त मानकर के उनकी उपेक्षा करने लगे। आचार्य कुन्दकुन्द ने तो पुण्य और पाप को क्रमश: सोने और लोहे की बेड़ी ही कहा था। किन्तु उनके परवर्ती टीकाकारों ने तो पुण्य-पाप दोनों को बन्धनका रूप कहकर उनकी पूर्णत: उपेक्षा करना प्रारम्भ कर दिया। पं० जयचंद जी छाबड़ा अपनी समयसार की भाषा वचनिका में लिखते हैं—

पुण्य पाप दोय करम, बन्ध रूप दुई मानी।
शुद्ध आतम जिन लह्यो, नमूँ चरण हित जानी।।

इस प्रकार पाप के साथ-साथ पुण्य कर्म भी अनुपादेय मान लिये गये। चाहे पुण्य को आस्रव या बन्ध रूप मान भी लिया जाये फिर भी उसकी उपादेयता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। किन्तु सही समझ के लिये कर्मों के बन्धक और अबन्धक होने की स्थिति की तथा उनके शुभत्व-अशुभत्व एवं शुद्धत्व की समीक्षा अपेक्षित है।

तीन प्रकार के कर्म

जैनदर्शन में 'कर्मणा बध्यते जन्तु:' की उक्ति स्वीकार्य रही है, लेकिन इसमें कर्म अथवा क्रियाएं समान रूप से बन्धनकारक नहीं हैं। उसमें दो प्रकार के कर्म माने गये हैं— एक को कर्म कहा गया हैं, दूसरे को अकर्म। समस्त साम्परायिक क्रियाएं अर्थात् राग-द्वेष एवं कषाय युक्त क्रियाएँ कर्म की कोटि में आती हैं और ईर्यापथिक कियाएँ अकर्म की कोटि में। नैतिक दर्शन की दृष्टि से प्रथम प्रकार के कर्म ही उचित-अनुचित की कोटि में आते हैं और दूसरे प्रकार के कर्म नैतिकता के क्षेत्र से परे हैं।

उन्हें अनैतिक कहा जा सकता है। लेकिन नैतिकता के क्षेत्र में आने वाले सभी कर्म भी एकसमान नहीं होते हैं। उनमें से कुछ शुभ और कुछ अशुभ होते हैं। जैन परिभाषा में इन्हें क्रमशः पुण्य-कर्म और पाप-कर्म कहा जाता है। इस प्रकार जैन दर्शन के अनुसार कर्म तीन प्रकार के होते हैं— (१) ईर्यापथिक कर्म (अकर्म) (२) पुण्य-कर्म और (३) पाप-कर्म।

अशुभ या पाप कर्म

जैन आचार्यों ने पाप की यह परिभाषा की है कि वैयक्तिक सन्दर्भ में जो आत्मा को बन्धन में डाले, जिसके कारण आत्मा का पतन हो, जो आत्मा के आनन्द का शोषण करे और आत्मशक्तियों का क्षय करे, वह पाप है।[1] सामाजिक सन्दर्भ में जो पर पीड़ा या दूसरों के दुःख का कारण है, वह पाप है (पापाय परपीडनम्)। वस्तुतः जिस विचार एवं आचार से अपना और पर का अहित हो और जिससे अनिष्ट फल की प्राप्ति हो, वह पाप है। वे सभी कर्म जो स्वार्थ, घृणा या अज्ञान के कारण दूसरे का अहित करने की दृष्टि से किये जाते हैं, पाप कर्म हैं। इतना ही नहीं सभी प्रकार के दुर्विचार और दुर्भावनाएं भी पाप कर्म हैं।

पाप कर्मों का वर्गीकरण

जैन दृष्टिकोण-जैन दार्शनिकों के अनुसार पाप कर्म १८ प्रकार के हैं— १. प्राणातिपात (हिंसा), २. मृषावाद (असत्य भाषण), ३. अदत्तादान (चौर्यकर्म), ४. मैथुन (काम-विकार), ५. परिग्रह (ममत्व, मूर्च्छा, तृष्णा या संचयवृत्ति), ६. क्रोध (गुस्सा), ७. मान (अहंकार), ८. माया (कपट, छल, षड्यन्त्र और कूटनीति), ९. लोभ (संचय या संग्रह की वृत्ति), १०. राग (आसक्ति), ११. द्वेष (घृणा तिरस्कार ईर्ष्या आदि), १२. क्लेश (संघर्ष, कलह, लड़ाई, झगड़ा आदि), १३. अभ्याख्यान (दोषारोपण), १४. पिशुनता (चुगली), १५. परपरिवाद (परनिन्दा), १६. रति-अरति (हर्ष और शोक), १७. माया-मृषा (कपट सहित असत्य भाषण), १८. मिथ्यादर्शनशल्य (अयथार्थ जीवनदृष्टि)।[2]

पुण्य (कुशल कर्म)

पुण्य वह है जिसके कारण सामाजिक एवं चैतसिक स्तर पर समत्व की स्थापना होती है। मन, शरीर और बाह्य परिवेश में सन्तुलन बनाना यह पुण्य का कार्य है। पुण्य क्या है इसकी व्याख्या में तत्त्वार्थसूत्रकार कहते हैं- शुभास्रव पुण्य है।[3] दूसरे जैनाचार्यों ने उसकी व्याख्या दूसरे प्रकार से की है। आचार्य हेमचन्द्र पुण्य की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि पुण्य अशुभ कर्मों का लाघव है और शुभ कर्मों का उदय है।[4] इस प्रकार आचार्य हेमचन्द्र की दृष्टि में पुण्य अशुभ (पाप) कर्मों की अल्पता और शुभ

कर्मों के उदय के फलस्वरूप प्राप्त प्रशस्त अवस्था का द्योतक है। निर्वाण की उपलब्धि में पुण्य के सहायक स्वरूप की व्याख्या आचार्य अभयदेव की स्थानांगसूत्र की टीका में मिलती है। आचार्य अभयदेव कहते हैं कि पुण्य वह है जो आत्मा को पवित्र करता है अथवा पवित्रता की ओर ले जाता है।[५] इस प्रकार आचार्य अभयदेव की दृष्टि में पुण्य आध्यात्मिक साधना में सहायक तत्त्व है। वस्ततः पुण्य मोक्षार्थियों की नौका के लिए अनुकूल वायु है जो उसे भवसागर से शीघ्र पार करा देती है।[६] जैन कवि बनारसीदास जी समयसारनाटक में कहते हैं कि जिससे भावों की विशुद्धि हो, जिससे आत्मा आध्यात्मिक विकास की ओर बढ़ता हो और जिससे इस संसार में भौतिक समृद्धि और सुख मिलता हो, वही पुण्य है।[७]

जैन तत्त्वज्ञान के अनुसार, पुण्य-कर्म के शुभ पुद्गल परमाणु हैं जो शुभवृत्तियों एवं क्रियाओं के कारण आत्मा की ओर आकर्षित हो बन्ध करते हैं और अपने विपाक के अवसर पर शुभ अध्यवसायों, शुभ विचारों एवं क्रियाओं की ओर प्रेरित करते हैं तथा आध्यात्मिक विकास हेतु मानसिक एवं भौतिक अनुकूलताओं के संयोग प्रस्तुत कर देते हैं। आत्मा की वे मनोदशाएं एवं कियाएं भी पुण्य कहलाती हैं जो शुभ पुद्गल परमाणु को आकर्षित करती हैं। साथ ही दूसरी ओर वे पुद्गल-परमाणु जो इन शुभ वृत्तियों एवं क्रियाओं को प्रेरित करते हैं और अपने प्रभाव से आरोग्य, सम्यक् श्रद्धा, ज्ञान एवं संयम के अवसर उपस्थित करते हैं, पुण्य कहे जाते हैं। शुभ मनोवृत्तियां भावपुण्य हैं और शुभ-पुद्गल परमाणु द्रव्य पुण्य हैं।

पुण्य या कुशल कर्मों का वर्गीकरण

भगवतीसूत्र में अनुकम्पा, सेवा, परोपकार आदि शुभ प्रवृत्तियों को पुण्योपार्जन का कारण कहा गया है।[८] स्थानांगसूत्र में नौ प्रकार के पुण्य निरूपित हैं।[९]

१. अन्नपुण्य— भोजनादि देकर क्षुधार्त की क्षुधा-निवृत्ति करना।

२. पानपुण्य— तृषा (प्यास) से पीड़ित व्यक्ति को पानी पिलाना।

३. लयनपुण्य— निवास के लिए स्थान देना जैसे धर्मशालाएँ आदि बनवाना।

४. शयनपुण्य— शय्या, बिछौना आदि देना।

५. वस्त्रपुण्य— वस्त्र का दान देना।

६. मनपुण्य— मन से शुभ विचार करना अर्थात् जगत् के मंगल की शुभकामना करना।

७. वचनपुण्य— प्रशस्त एवं सन्तोष देने वाली वाणी का प्रयोग करना।

८. कायपुण्य— रोगी, दुःखित एवं पूज्य जनों की सेवा करना।

९. नमस्कार पुण्य— गुरुजनों के प्रति आदर प्रकट करने के लिए उनका अभिवादन करना।

पुण्य और पाप (शुभ-और अशुभ) की कसौटी

शुभाशुभता या पुण्य-पाप के निर्णय के दो आधार हो सकते हैं— १. कर्म का बाह्य स्वरूप अर्थात् समाज पर उसका प्रवाह और २. कर्त्ता का अभिप्राय। इन दोनों में कौन सा आधार यथार्थ है, यह विवाद का विषय रहा है। गीता और बौद्ध दर्शन में कर्ता के अभिप्राय को ही कृत्यों की शुभाशुभता का सच्चा आधार माना गया है। गीता स्पष्ट रूप से कहती है कि 'जिसमें कर्तृत्व भाव नहीं है, जिसकी बुद्धि निर्लिप्त है, वह कर्त्तव्यभाव से इन सब लोगों मार डाले तो भी यह समझना चाहिए कि उसने न तो किसी को मारा है और न वह उस कर्म से बन्धन को प्राप्त होता है।'[१०] धम्मपद में बुद्ध-वचन भी ऐसा ही है कि नैष्कर्म्यस्थिति को प्राप्त ब्राह्मण माता-पिता को, दो क्षत्रिय राजाओं को एवं प्रजा सहित राष्ट्र को मारकर भी निष्पाप होकर जाता है।[११] बौद्ध दर्शन में कर्ता के अभिप्राय को ही पुण्य-पाप का आधार माना गया है। इसका प्रमाण सूत्रकृतांगसूत्र के आर्द्रक सम्वाद में भी मिलता है।[१२] जहाँ तक जैन मान्यता का प्रश्न है, विद्वानों के अनुसार उसमें भी कर्ता के अभिप्राय को ही कर्म की शुभाशुभता का आधार माना गया है। मुनि सुशीलकुमार जी लिखते हैं कि शुभ-अशुभ कर्म के बन्ध का मुख्य आधार मनोवृत्तियां ही हैं। एक डाक्टर किसी को पीड़ा पहुंचाने के लिए उसका व्रण चीरता है। उससे चाहे रोगी को लाभ ही हो जाये परन्तु डाक्टर तो पाप-कर्म के बन्धन का ही भागी होगा। इसके विपरीत वही डाक्टर करुणा से प्रेरित होकर व्रण चीरता है और कदाचित् उससे रोगी की मृत्यु हो जाती है, तो भी डाक्टर अपनी शुभ-भावना के कारण पुण्य का बन्ध करता है।[१३] पण्डित सुखलालजी भी यही कहते हैं, पुण्यबन्ध और पाप-बन्ध की सच्ची कसौटी केवल ऊपरी क्रिया नहीं है, किन्तु उसकी यथार्थ कसौटी कर्ता का आशय ही है।[१४] जैन दर्शन के अनुसार जिस व्यक्ति में संसार के सभी प्राणियों के प्रति आत्मवत् दृष्टि है, वही पुण्य कर्मों का स्रष्टा है।[१५] दशवैकालिकसूत्र में कहा गया है कि समस्त प्राणियों को जो अपने समान समझता है और जिसका सभी के प्रति समभाव है, वह पाप-कर्म का बन्ध नहीं करता है।[१६] सूत्रकृताङ्ग के अनुसार भी धर्म-अधर्म (शुभाशुभत्व) के निर्णय में अपने समान दूसरे को समझना चाहिए।[१७] सभी को जीवित रहने की इच्छा है। कोई भी मरना नहीं चाहता। सभी को अपने प्राण प्रिय हैं। सुख अनुकूल है और दुःख प्रतिकूल। इसलिए वही आचरण श्रेष्ठ है, जिसके द्वारा किसी भी प्राणी का हनन नहीं हो।[१८]

कौन सा कर्म बन्धनकारक है और कौन सा कर्म बन्धनकारक नहीं है, इसका निर्णय क्रिया के बाह्य रूप से नहीं वरन् क्रिया के मूल में निहित चेतना की रागात्मकता के आधार पर होगा। पं० सुखलालजी कर्मग्रन्थ की भूमिका में लिखते हैं कि साधारण

लोग यह समझ बैठते हैं कि अमुक काम नहीं करने से अपने को पुण्य-पाप का लेप नहीं लगेगा, इससे वे काम को छोड़ देते हैं पर बहुधा उनकी मानसिक क्रिया नहीं छूटती। इससे वे इच्छ रहने पर भी पुण्य-पाप के लेप (बन्ध) से अपने को मुक्त नहीं कर सकते। यदि कषाय (रागादिभाव) नहीं है तो ऊपर की कोई भी क्रिया आत्मा को बन्धन में रखने में समर्थ नहीं है। इससे उल्टे, यदि कषाय का वेग भीतर वर्तमान है तो ऊपर से हजार यत्न करने पर भी कोई अपने को बन्धन से छुड़ा नहीं सकता। इसी से यह कहा जाता है कि आसक्ति छोड़कर जो काम किया जाता है वह बन्धनकारक नहीं होता।[११]

अत: बन्धन के भय से परोपकार की प्रवृत्तियों एवं लोकहित के अपने दायित्वों को छोड़ बैठना उचित नहीं हैं।

क्या पुण्यकर्म (शुभकर्म) आस्त्रव ही है?

वस्तुत: पुण्य को अनुपादेय या हेय मानने की प्रवृत्ति का मूल कारण उसे आस्त्रव रूप मानना है। यह ठीक है कि उमास्वाति ने तत्त्वार्थसूत्र में शुभ का आस्त्रव कहा है, किन्तु प्रथम तो ध्यान रखना आवश्यक है कि शुभ का आस्त्रव हेय नहीं है। उमास्वाति ने भी कहीं भी शुभ को हेय नहीं कहा है। जो भी आस्त्रव है, वह सभी हेय या अनुपादेय है ऐसा अनेकान्तवादी जैन दर्शन का सिद्धान्त नहीं है। आचारांग सूत्र में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि जो आस्त्रव के हेतु हैं, वे परिस्त्रव अर्थात् संवर और निर्जरा के हेतु भी बन जाते हैं और जो परिस्त्रव अर्थात संवर और निर्जरा के हेतु हैं वे आस्त्रव के हेतु भी बन सकते हैं। अत: पुण्य-कर्म आस्त्रव रूप ही हैं— ऐसी जैन दर्शन की एकान्त अवधारणा नहीं है। अपनी कृति में पं० प्रवर कन्हैयालाल जी लोढ़ा कसायपाहुड की जयधवल टीका के आधार पर लिखते हैं कि दया, दान, करुणा, वात्सल्य, वैयावृत्य आदि सद् प्रवृत्तियो को शुभयोग व पुण्य कहा गया है। साथ ही शुभयोग को संवर भी कहा गया है। जयधवला में कहा गया है कि शुभ और शुद्ध परिणामों से कर्मों का क्षय न माना जाये तो फिर कर्मों का क्षय हो ही नहीं सकता। वस्तुत: उनकी यह अवधारणा युक्तिसंगत है कि शुभभाव कषाय के उदय से नहीं, कषाय की मंदता से होते हैं अत: वे संवर रूप भी हैं। यह निश्चित सिद्धान्त है कि शुभ परिणामों के उदय से अशुभ परिणामों का संवर होता है और अशुभ परिणामों का संवर ही वास्तविक अर्थ में संवर है। पुण्य में प्रवृत्ति होने से पाप से निवृत्ति स्वाभाविक रूप से होती है। अत: पुण्य को आस्त्रव रूप और संवर रूप दोनों ही मानना होगा। पुण्य चाहे शुभ का आस्त्रव हो, किन्तु उसी समय वह अशुभ का तो संवर है ही।

पुण्य कर्म और उनका बन्ध एवं विपाक

यह सत्य है कि पुण्य कर्म भी है। क्योंकि उसका आस्त्रव, बन्ध और विपाक माना गया है, किन्तु सभी प्रकार के आस्त्रव और बन्ध समान नहीं होते हैं। वस्तुत:

वही आस्रव, बन्ध एवं विपाक हेय कहा जाता है जिसके कारण आत्मा का स्वस्वभाव विकारी बनता है अर्थात् विभाव परिणति होती है। जैन परम्परा में इन्हें घाती कर्म कहा गया है। पुण्य द्वारा जिन कर्म प्रकृतियों का बन्ध होता है वे सभी अघाती कर्म की हैं अर्थात् उनसे आत्मा का स्वभाव विकारी नहीं होता है। मोक्ष-प्राप्ति के समय में आयुष्य कर्म का क्षय होने पर अर्थात् आयुष्य पूर्ण होने पर पुण्य कर्म भी स्वतः ही समाप्त हो जाते हैं। पुण्य कर्मों को क्षय करने पर किसी प्रयत्न या पुरुषार्थ की अपेक्षा नहीं होती है।

पुण्य कर्म तभी बन्धक बनते हैं जब वे फलाकांक्षा और रागात्मकता से युक्त होते हैं। अन्यथा तो वे ईर्यापथिक कर्म की तरह प्रथम समय में बंधकर दूसरे ही समय में निर्जरित हो जाते हैं, उनका स्थिति बन्ध नहीं होता है, क्योंकि स्थिति बन्ध कषाय के निमित्त से होता है और कषाय चाहे किसी भी रूप में हो वह पुण्य रूप नहीं माना जा सकता है।

पुण्य प्रकृति का बन्ध तो मन, वचन, काया के शुभ योग ही करते हैं। कषाय के अभाव में वीतराग के पुण्य कर्म होते हुए भी मात्र ईर्यापथिक आस्रव एवं बन्ध होता है। जैन कर्म सिद्धान्त का नियम है कि ग्यारहवें गुणस्थान में कषाय के उदय न होने पर जीवों के प्रति करुणा, सेवा एवं विनय रूप पुण्य प्रवृत्तियां रहने पर भी उनसे मात्र द्विसमय की सत्ता वाले ईर्यापथिक सातावेदनीय (पुण्य प्रकृति) का बन्ध होता है। जिसे जैन परम्परा में ईर्यापथिक कर्म या अकर्म कहा गया है, ऐसा कर्म वस्तुतः कर्म ही नहीं है। वस्तुतः जो भवभ्रमण का कारण हो या मुक्ति में बाधक हो या जिससे आत्म-स्वभाव विकार दशा या विभाव दशा को प्राप्त होता हो वही कर्म है, शेष तो अकर्म ही है। सूत्रकृतांग में अप्रमाद की स्थिति में सम्पन्न क्रिया को अकर्म कहा गया है। इसलिए वह सद्प्रवृत्ति रूप पुण्य कर्म न तो हेय है और न उपेक्षा के योग्य है, अपितु ऐसा कर्म तो कर्त्तव्य भाव से करणीय ही माना गया है। वस्तुतः जो लोग पुण्य को बन्धन रूप मानकर उसकी उपेक्षा का निर्देश करते हैं, वे पुण्य के वास्तविक स्वरूप से परिचित ही नहीं हैं। उन्होंने फलाकांक्षा युक्त सकाम कर्म करने को ही पुण्य कर्म समझ लिया है। जो वास्तविक अर्थ में पुण्य कर्म न होकर पाप ही है, क्योंकि 'राग' पाप है।

पुण्य की उपादेयता का प्रश्न

पुण्य की उपादेयता को सिद्ध करने के लिए आध्यात्मिक साधक प्रज्ञापुरुषा पं० कन्हैयालाल जी लोढ़ा ने अति परिश्रम करके अपनी कृति में सप्रमाण यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि पुण्य हेय नहीं है, अपितु उपादेय है।

यदि पुण्य कर्म को मुक्ति में बाधक मानकर हेय मानेंगे तो तीर्थंकर नाम गोत्र कर्म को भी मुक्ति में बाधक मानना होगा, किन्तु कोई भी जैन विचारक तीर्थंकर नाम

गोत्र कर्म के बन्ध को मुक्ति में बाधक, अनुपादेय या हेय नहीं मानता है। क्योंकि तीर्थंकर नाम गोत्रकर्म के बन्ध के पश्चात् नियमत: तीसरे भव में अवश्य मुक्ति होती है। पुन: तीर्थंकर नाम-गोत्र कर्म का, जब तक उनके आयुष्य कर्म की स्थिति होती है तब तक ही अस्तित्व रहता है। अत: वह मुक्ति में बाधक नहीं होता, क्योंकि तीर्थंकर नाम कर्म से युक्त जीव तीर्थंकर नाम कर्म गोत्र के उदय की अवस्था में नियम से ही मुक्ति को प्राप्त होता है।

वस्तुत: व्यक्ति में जब तक योग अर्थात मन-वचन-कर्म की प्रवृत्तियाँ हैं तब तक कर्मास्रव अपरिहार्य है। फिर भी जैनाचार्यों ने इन योगों अथवा मन, वचन और काया की प्रवृत्तियों को हेय नहीं बताया है और न उन्हें त्यागने का ही निर्देश दिया है। उनका निर्देश मात्र इतना ही है कि मन, वचन और काया की प्रवृत्तियों को हेय नहीं बताया है और न उन्हें त्यागने का ही निर्देश दिया है। उनका निर्देश मात्र इतना ही है कि मन, वचन और काया की जो अशुभ या अप्रशस्त प्रवृत्तियां हैं, उन्हें रोका जाये, प्रशस्त प्रवृत्तियों के रोकने का कहीं भी कोई निर्देश नहीं है। तीर्थंकर अथवा केवली भी योग-निरोध उसी समय करता है जब आयुष्य कर्म मात्र पांच ह्रस्व-स्वरों के उच्चारण में लगने वाले समय के समतुल्य रह जाता है, अत: पुण्य कर्म को मुक्ति में बाधक या संसार परिभ्रमण का कारण नहीं माना जा सकता है। वस्तुत: संसार परिभ्रमण का कारण राग-द्वेष या कषाय के तत्त्व हैं क्योंकि राग-द्वेष या कषाय के अभाव में मात्र योग अर्थात् कायिक, वाचिक और मानसिक प्रवृत्तियों के कारण जो कर्मास्रव होता है उससे ईर्यापथिक बन्ध होता है, साम्परायिक बन्ध नहीं होता। जैन कर्म सिद्धान्त के अनुसार बन्ध के चार प्रकारों में योग के निमित्त मात्र प्रकृति और प्रदेश का ही बन्ध होता है तथा राग-द्वेष एवं कषाय का अभाव होने के कारण उनका स्थिति बन्ध नहीं हो पाता अत: ईर्यापथिक आस्रव और ईर्यापथिक बन्ध में स्थिति का अभाव होता है और स्थिति के अभाव में वे कर्म दूसरे समय के पश्चात् ही निर्जरित हो जाते हैं, अत: पुण्यास्रव या पुण्य कर्म संसार परिभ्रमण का कारण नहीं है। सत्य तो यह है कि ईर्यापथिक आस्रव वस्तुत: बन्ध नहीं करता है।

कभी-कभी यह भी कहा जाता है कि पुण्य कर्म करने में प्रशस्त राग होता है और प्रशंस्त राग भी संसार परिभ्रमण का कारण होता है। वस्तुत: यहां हम दो बातों को आपस में मिला देते हैं। कर्म की प्रशस्तता और कर्म की रागात्मकता ये दो अलग-अलग तथ्य हैं। जो प्रशस्त कर्म है वह रागात्मक भी हो, यह आवश्यक नहीं है। बन्धन में डालने वाला तत्त्व राग-द्वेष या कषाय है, जैन कर्म सिद्धान्त के अनुसार उसकी अनुपस्थिति में बन्धन नहीं होता है। वस्तुत: प्रशस्तकर्म का सम्पादन बन्धन का कारण नहीं है। सभी सद्प्रवृत्तियां या पुण्य कर्म रागात्मकता या आसक्ति से उत्पन्न नहीं होते हैं। प्रज्ञावान आत्माओं के कर्म कर्तव्य भाव से होते हैं और मात्र कर्तव्य बुद्धि

से किया गया विनय या सेवा रूप कार्य बन्धन का नहीं अपितु निर्जरा का ही हेतु होता है। इस प्रकार कर्म फल की आकांक्षा, ममत्व बुद्धि या कषाय ही उसके बन्धन के कारण हैं क्योंकि उनकी उपस्थिति में ही कर्म का स्थितिबन्ध होता है और स्थिति को लेकर जो कर्म बन्धते हैं, वे ही संसार परिभ्रमण के कारण और मुक्ति में बाधक होते हैं, न कि कर्तव्य बुद्धि से किये गये सत्कर्म या पुण्य कर्म।

क्या पुण्य धर्म नहीं है

पुन: यह भी प्रश्न उठाया जाता है कि जो आस्रव का हेतु हो या कर्म रूप हो वह धर्म नहीं हो सकता। पुण्य आस्रव है वह धर्म नहीं है अथवा यह कि पुण्य कर्म है अत: वह धर्म नहीं हो सकता। वस्तुत: आस्रव या कर्म धर्म है या धर्म नहीं है— यह प्रश्न इस तथ्य से जुड़ा हुआ है कि धर्म से हमारा क्या तात्पर्य है? सामान्यतया धर्म शब्द वस्तु स्वभाव, कर्त्तव्य भाव और साधना पद्धति इन तीन अर्थों में प्रचलित है। यदि हम धर्म का अर्थ स्वभाव लेते हैं तो हमें यह विचार करना होगा कि पुण्यास्रव या पुण्य-बन्ध या पुण्य-विपाक आत्मा के विभाव रूप हैं या स्वभाव रूप हैं। इतना निश्चित है कि पुण्य का आस्रव, पुण्य का बन्ध और पुण्य का उदय या विपाक विभाव के हेतु नहीं हैं। वे विभाव के हेतु तभी बनते हैं जब उनके साथ राग-द्वेष या कषाय के तत्त्व प्रविष्ट हो जाते हैं। राग-द्वेष से ऊपर उठकर विशुद्ध रूप से कर्त्तव्य बुद्धि से विनय प्रतिपत्ति और वैयावृत्ति या सेवा के कार्य विभाव परिणति के कारण नहीं हैं, क्योंकि कर्त्तव्य बुद्धि से की गयी क्रियाएँ ममत्व या राग से नहीं, अपितु त्याग भावना से ही प्रतिफलित होती हैं। जैन परम्परा में पुण्य के रूप में दान, सेवावृत्ति और विनय प्रतिपत्ति का जो उल्लेख हुआ है, वह त्याग भावना और मात्र कर्त्तव्य बुद्धि से सम्भव है। दान ममत्व के विसर्जन में ही सम्भव होता है और ममत्व का विसर्जन या त्याग भाव स्वभाव परिणति है, विभाव परिणत्ति नहीं। पुन: यदि त्याग भाव या ममत्व का विसर्जन स्वभाव परिणति है तो वह धर्म है और ऐसी स्थिति में पुण्य को भी धर्म ही मानना होगा। पुन: त्याग भाव अथवा मात्र कर्तव्य बुद्धि से किया गया कर्म वस्तुत: निष्काम कर्म या अकर्म की कोटि में आता है, क्योंकि जो कर्म राग-द्वेष-ममत्व से ऊपर उठकर मात्र कर्त्तव्य बुद्धि से किया जाता है ऐसा निष्काम कर्म धर्म का ही अंग है। बिना फल की आकांक्षा के कर्त्तव्य बुद्धि से कर्म करने पर विभाव में परिणति नहीं होती है, क्योंकि विभाव दशा तभी सम्भव होती है जब 'पर' में 'स्व' का अर्थात् ममत्व बुद्धि का आरोपण होता है। ममत्व बुद्धि या रागात्मकता से अथवा फलाकांक्षा से किया गया कार्य ही बन्धन का कारण होता है और इसलिए उसकी गणना अशुभ कर्म या पाप कर्म में होती है, किन्तु ममत्व बुद्धि से ऊपर उठकर मात्र कर्त्तव्य बुद्धि से जो कर्म किया जाता है वह कर्म अकर्म बन जाता है और निष्काम कर्म या अकर्म धर्म ही होता है अत: पुण्य धर्म है। वस्तुत: शुभ कर्म या पुण्य कर्म करते समय यदि व्यक्ति ममत्व बुद्धि या रागात्मकता

को रखकर चलता है तो वह पुण्य को पाप में ही परिवर्तित कर देता है। उसे पापानुबन्धी पुण्य कहा है वही बन्धन रूप है। न केवल जैन परम्परा में अपितु गीता में भी कर्त्तव्य बुद्धि से किये गये कर्म बन्धन के कारण नहीं माने गये हैं, अपितु उन्हें धर्म या मुक्ति का हेतु ही कहा गया है। कर्म में रागात्मकता या फलबुद्धि आनेपर कर्त्तव्य बुद्धि समाप्त हो जाती है और कर्त्तव्य बुद्धि समाप्त हो जाने पर वह कर्म विकर्म या पाप कर्म बन जाता है। अत: पुण्य आस्रव का निमित्त होते हुए भी धर्म ही है, क्योंकि उसमें कर्त्तव्य बुद्धि ही होती है। अत: पुण्य को धर्म की कोटि में ही स्थान देना होगा।

पुण्य धर्म नहीं है अथवा धर्म पुण्य नहीं है या पुण्य और धर्म भिन्न-भिन्न हैं— जो लोग ऐसी अवधारणा रखते हैं, वे वस्तुत: पुण्य का अर्थ ममत्व-बुद्धि या रागात्मकता से युक्त कर्म ही लेते हैं। किन्तु सभी शुभ कर्म या पुण्य कर्म रागात्मकता से ही सम्पन्न होते हैं, यह नहीं माना जा सकता है। अनेक शुभ कर्म या पुण्य कर्म मात्र कर्त्तव्य बुद्धि से सम्पन्न होते हैं और जो कर्म मात्र कर्त्तव्य बुद्धि से सम्पन्न होते हैं वे धर्म ही कहे जायेंगे क्योंकि कर्त्तव्य-पालन धर्म ही है। वस्तुत: किसी कर्म में ममत्व बुद्धि या फलाकांक्षा का जितना तत्त्व होता है, वही उसे अशुभ या पाप में परिवर्तित कर देता है। वे पुण्य कर्म जो कर्त्तव्य बुद्धि से या निष्काम भाव से सम्पन्न किये जाते हैं, वे धर्म ही हैं। वे न तो बन्धन के हेतु हैं और न मोक्ष की प्राप्ति में बाधक। ऐसे कर्मों के सम्बन्ध में धर्म और पुण्य को एकात्मक या अभिन्न मानना होगा। सेवा, विनय आदि के जिन कर्मों के पीछे ममत्व बुद्धि या फलाकांक्षा जुड़ी हुई होती है, वे शुद्ध रूप में पुण्य कर्म नहीं कहे जा सकते हैं। वे पापानुबन्धी पुण्य हैं और इसी प्रकार सेवादि के जिन कार्यों में फलाकांक्षा या फल बुद्धि है वे पुण्यानुबन्धी पाप हैं। क्योंकि भविष्य की फलाकांक्षा उन्हें पापरूप बना देती है।

जिन स्थितियों में पुण्य और पाप का मिश्रण है वहाँ रागात्मकता या फलाकांक्षा की उपस्थिति उस कर्म को पुण्य से पाप के रूप में वैसा ही परिवर्तित कर देती है जैसे दूध में डाला गया थोड़ा सा दही सम्पूर्ण दूध को दही में परिवर्तित कर देता है। जैन दर्शन में पाप के जो अठारह प्रकार माने गये हैं उनमें राग-द्वेष भी हैं। रागात्मकता पुण्य नहीं है, अत: वह धर्म भी नहीं है। जिस कर्म के पीछे रागात्मकता या फलाकांक्षा होगी वह पाप कर्म या अधर्म ही होगा। अत: प्रशस्त राग जैसे शब्द मात्र भ्रान्ति ही खड़ी करते हैं। कर्म-सिद्धान्त की अपेक्षा राग कभी भी प्रशस्त नहीं है, अत: वह धर्म नहीं है।

पुण्य क्या है? यदि इस प्रश्न का संक्षिप्त उत्तर देना है तो हम कहेंगे-पुण्य वह है जो आत्मा को पवित्र करता है। (पुनाति वा पवित्रीकरोत्यात्मानमिति पुण्यम्) पुण्य की इस व्युत्पत्तिपरक परिभाषा के आधार पर उसे किसी भी स्थिति में हेय और त्याज्य नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि सभी धर्मों और साधना पद्धतियों का मूल उद्देश्य तो

आत्मा की पवित्रता को ही प्राप्त करना है जो तत्त्व आत्मा की पवित्रता में साधक हो वह हेय या त्याज्य कैसे हो सकता है। पुण्य की दूसरी परिभाषा-परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्' के अनुसार जिससे दूसरों को दुःख हो, पीड़ा पहुँचे वह पाप है और जो दूसरों का हित करे, उपकार करे वह पुण्य है। इस प्रकार परोपकार को ही धर्म कहा जाता है। गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी कहा है—

परहित सरिस धरम नहिं भाई।
पर पीड़ा सम नहिं अधमाई।।

केवल उन्हीं पुण्यकर्मों को धर्म की कोटि में नहीं लिया जा सकता जो फलाकांक्षा या ममत्व बुद्धि से प्रेरित होते हैं। जो भी लोकमंगल के कार्य मात्र कर्तव्यबुद्धि से किये जाते हैं, जिनके पीछे किसी फलाकांक्षा या राग-द्वेष का तत्त्व नहीं होता, वे धर्म से अभिन्न ही हैं, क्योंकि उनमें जो ईर्यापथिक आस्रव और ईर्यापथिक बन्ध होता है वह वस्तुतः बन्ध नहीं है। निष्काम पुण्य प्रवृत्तियां शुभ भी होती हैं और शुद्ध भी। शुभ शुद्ध का विरोधी नहीं होता है, क्योंकि पुण्य का कार्य आत्मविशुद्धि रूप प्रवृत्तियां हैं वे धर्म ही हैं।

शुभ एवं शुद्ध अविरोधी है

सामान्यतया यह समझा जाता है कि पुण्य प्रकृतियों और निवृत्तिमूलक धर्म-साधना में अथवा शुभ और शुद्ध में परस्पर विरोध है, किन्तु यह एक भ्रान्त अवधारणा है। शुद्ध दशा की उपलब्धि के लिये शुभ की साधना आवश्यक होती है, जैसे कपड़े के मैल को हटाने के लिये साबुन आवश्यक है। हम यह जानते हैं कि अशुभ प्रवृत्ति से निवृत्ति तभी सम्भव होती है जब शुभ योग में प्रवृत्ति होती है। अशुभ से बचने के लिये शुभ में अथवा पाप प्रवृत्तियों से बचने के लिये पुण्य प्रवृत्तियों में जुड़ना आवश्यक है। हमारी चित्तवृत्ति प्रारम्भिक अवस्था में निर्विकल्प अवस्था को प्राप्त नहीं हो सकती। चित्त विशुद्धि के लिये सर्वप्रथम चित्त में लोक मंगल या लोक कल्याण की भावना को स्थान देना होता है। अशुभ से शुभ की ओर बढ़ना होता है और शुभ की ओर बढ़ना ही शुद्ध की ओर बढ़ना है। जिस प्रकार वस्त्र की शुद्धि के लिये पहले साबुन आदि लगाना होता है, साबुन आदि द्रव्य वस्त्र की विशुद्धि में साधक ही होते हैं बाधक नहीं। उसी प्रकार निष्काम भाव से किये गये लोक मंगल के कार्य भी मुक्ति में साधक होते हैं बाधक नहीं। जिस प्रकार वस्त्र की शुद्धि प्रक्रिया में भी वस्त्र से मैल को निकालने का ही प्रयत्न किया जाता है, साबुन तो मैल के निकालने के साथ ही स्वतः ही निकल जाता है उसी प्रकार चाहे पुण्य प्रवृत्तियों के निमित्त से आस्रव होता भी हो, किन्तु वह आस्रव आत्म-विशुद्धि का साधक ही होता है। यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि शुद्धोपयोग की अवस्था में पुण्य के आस्रव से स्थिति बन्ध नहीं होता। तीर्थंकर अथवा केवली सदैव

शुद्धोपयोग में ही रहते हैं, किन्तु उनको भी अपनी योग प्रवृत्ति द्वारा वेदनीय कर्म का आस्रव जो पुण्य प्रकृति का आस्रव है या- ईर्यापथिक आस्रव है, होता ही रहता है। इसका फलित यह है कि शुभोपयोग शुद्धोपयोग में बाधक नहीं है, अपितु साधक ही है। जैन साधना का क्रम यही है कि व्यक्ति अशुभ से शुभ की ओर और शुभ से शुद्ध की ओर बढ़े। अतः शुभोपयोग और शुद्धोपयोग परस्पर विरोधी नहीं हैं शुभोपयोग के सद्भाव में शुद्धोपयोग सम्भव है। वस्तुतः शुद्धोपयोग में बाधक वे ही तथाकथित शुभ प्रवृत्तियां होती हैं, जो फलाकांक्षा से या रागात्मकता से युक्त होती हैं। वस्तुतः वे तो फलाकांक्षा या रागात्मकता के कारण अशुभ ही होती हैं, किन्तु लोक व्यवहार में अथवा उपचार से उन्हें शुभ कहा जाता है। उदाहरण के रूप में कोई व्यक्ति अपने अहं की सन्तुष्टि के लिये अर्थात् मान-कषाय की पूर्ति के लिये दान देता है। बाहर से तो उसका यह कर्म शुभ दिखाई देता है, किन्तु वस्तुतः वह मान-कषाय का हेतु होने के कारण अशुभ ही है। शुभ कर्म दो प्रकार के होते हैं एक वे जो बाह्य प्रतीति के रूप में तो शुभ दिखाई देते हैं, किन्तु वस्तुतः शुभ होते नहीं हैं, मात्र व्यवहार में उन्हें शुभ कहा जाता है। दूसरे वे जो निष्काम भाव से मात्र दूसरों के प्रति अनुकम्पा या हित बुद्धि से किये जाते हैं वे वस्तुतः शुभ होते हैं। निष्काम भाव और कर्त्तव्य बुद्धि से लोक मंगल के लिये किये गये ऐसे कर्म शुभ भी हैं और शुद्ध भी। यहां शुभ और शुद्ध में विरोध नहीं है। कसायपाहुड की जयधवला टीका में अनुकम्पा और शुद्धोपयोग से भी आश्रव माना है, किन्तु ऐसा आश्रव हेय नहीं है। तीर्थंकर वीतराग होते हैं। उन्हें शुद्धोपयोग दशा में भी योग की सत्ता बने रहने पर शुभास्रव तो होता ही है। अतः शुद्धोपयोग और शुभास्रव विरोधी नहीं है। शुद्धोपयोग आत्मा की अवस्था है जबकि शुभ योग, जो पुण्य बन्ध का कारण है मन, वचन और काया की प्रवृत्ति का परिणाम है। जब तक जीवन है, योग होंगे ही। यदि शुभ योग नहीं होंगे तो अशुभ योग होंगे, अतः अशुभ से निवृत्ति के लिये शुभ में प्रवृत्ति आवश्यक है अर्थात् पाप से निवृत्ति के लिये पुण्य रूप प्रवृत्ति आवश्यक है। पाप से अर्थात् अशुभ योग से निवृत्ति होने पर ही शुभ योग द्वारा शुद्धोपयोग की प्राप्ति सम्भव है। शुभ-योग शुद्धोपयोग में बाधक नहीं, साधक है। शुभ योग और शुद्धोपयोग में साधन-साध्य भाव है, अतः उन्हें अविरोधी मानकर शुद्धोपयोग दशा की प्राप्ति के लिये साधनरूप शुभ योगों अर्थात् पुण्य कर्मों का अवलम्बन लेना चाहिये। पापरूपी बीमारी को हटाने के लिये पुण्य प्रवृत्ति औषधि रूप है जिससे आत्म-विशुद्धि रूप स्वास्थ्य या शुद्धोपयोग दशा की प्राप्ति होती है। शुद्धोपयोग में शुभोपयोग अर्थात् पुण्य कर्म बाधक नहीं साधक ही है। वस्तुतः शुभाशुभ कर्मों से जो ऊपर उठने की बात कही जाती है उसका तात्पर्य मात्र इतना ही है कि मोक्ष रूपी साध्य की उपलब्धि होने पर व्यक्ति पुण्य-पाप दोनों का अतिक्रमण कर जाता है। जिस प्रकार नदी पार करने के लिये नौका की अपेक्षा होती है, किन्तु जैसे ही किनारा प्राप्त हो जाता है नौका भी छोड़ देना पड़ती है, किन्तु इससे नौका की मूल्यवत्ता या

महत्ता को कम नहीं आंकना चाहिये। पार होने के लिये उसकी आवश्यकता तो अपरिहार्य रूप से होती है। वैसे ही संसार रूपी समुद्र से पार होने के लिये पुण्य रूपी नौका अपेक्षित है, क्योंकि साधना की पूर्णता मानवीय गुणों की अभिव्यक्ति में है और मानवीय गुणों की अभिव्यक्ति के लिये पुण्य कर्मों का सम्पादन आवश्यक है, अतः पुण्य कर्मों की उपादेयता निर्विवाद है।

पुण्य कर्मों को बन्धन रूप मानकर जो उनकी उपेक्षा जाती है वह बन्धन के स्वरूप की सही समझ नहीं होने के कारण है। पुण्य कर्म जब निष्काम भाव से किये जाते हैं तो उनसे बन्धन नहीं होता है। यदि जैन धर्म की शास्त्रीय भाषा में कहें तो उनमें मात्र ईर्यापथिक बन्ध होता है, जो वस्तुतः बन्ध नहीं है। बन्धन जब भी होगा वह राग-द्वेष (कषाय) एवं फलाकांक्षा की सत्ता होने पर ही होगा, उनका अभाव होने पर बन्धन नहीं होगा। जैन कर्म सिद्धान्त का यह शाश्वत नियम है कि किसी भी कर्म का स्थिति बन्ध कषाय का कारण हैं। अतः वीतराग दशा की प्राप्ति पर शुभ कर्म या पुण्य कर्म अकर्म बन जाते हैं, वे बन्धन नहीं करते हैं। अतः त्याज्य 'कषाय' है न कि 'पुण्य' कर्म। आत्मा की शुद्ध दशा की प्राप्ति अर्थात् शुद्धोपयोग में उपस्थिति कषाय के अभाव में सम्भव है। अतः उसकी प्राप्ति के लिए कषाय का त्याग आवश्यक है, न कि पुण्य प्रवृत्ति का। वस्तुतः जब राग-द्वेष (कषाय) एवं फलाकांक्षा समाप्त हो जाती है तब वह शुभकर्म अकर्म बन जाता है। कषाय चाहे अधिक हो या अल्प, वह त्याज्य है, वह पापरूप ही है क्योंकि वह बन्धन का कारण ही है। कन्हैयालाल जी लोढ़ा का यह कथन शत प्रतिशत सही है कि मन्द कषाय पापरूप है, किन्तु कषाय की मन्दता पुण्य रूप है। कषाय में जितनी मन्दता होगी पुण्यप्रभार उतना ही अधिक होगा। पुण्य प्रवृत्ति जब भी होती हैं, वे कषाय की मन्दता में ही होती है अतः कषाय चाहे वह मन्द ही क्यों न हो, त्याज्य है- किन्तु कषाय की मन्दता उपादेय है, क्योंकि साधक कषाय को मन्द करते-करते अन्त में वीतराग दशा को उपलब्ध हो जाता है और जब वह वीतराग दशा को उपलब्ध हो जाता है तो उसकी स्वाभाविक रूप से निःसृत होने वाली लोकमंगलकारी पुण्य प्रवृत्तियाँ बन्धन कारक नहीं होती हैं। वे त्याज्य नहीं, अपितु उपादेय ही होती हैं। बन्धन पुण्य प्रवृत्तियों से नहीं होता है, बन्धन तो व्यक्ति की निदान बुद्धि या फलाकांक्षा से होता है अथवा कषाय की उपस्थिति से होता है। गुणस्थान सिद्धान्त के अनुसार भी कर्मबन्ध दसवें गुणस्थान तक ही सम्भव है, क्योंकि दसवें गुणस्थान में संज्वलन लोभ (सूक्ष्म लोभ) की सत्ता है। ग्यारहवें गुणस्थान से लेकर चौदहवें गुणस्थान तक लोकमंगल की प्रवृत्तियों के फलस्वरूप जो द्वि-समय का ईर्यापथिक सातावेदनीय कर्म का बन्ध होता है वस्तुतः वह बन्ध नहीं है। अतः पुण्य रूप सद्प्रवृत्तियाँ बन्ध रूप नहीं हैं अतः वे हेय नहीं उपादेय हैं। हेय तो कषाय हैं, जो पाप रूप हैं। अपनी कृति में पं० कन्हैयालाल जी लोढ़ा ने पुण्य प्रवृत्तियों की उपादेयता को सप्रमाण सिद्ध किया

है, उनके मुख्य प्रतिपाद्य बिन्दु निम्न हैं—

(१) पुण्यतत्त्व और पुण्यकर्म में अन्तर है। चाहे पुण्य कर्म बन्ध के निमित्त हों, किन्तु पुण्यतत्त्व बन्ध का निमित्त नहीं है। पुण्यकर्म क्रिया या योग रूप है। इससे उसका आस्त्रव एवं बन्ध सम्भव है, किन्तु पुण्यतत्त्व उपयोग रूप है, शुभ आत्म परिणाम रूप है जो कषाय की मन्दता का परिणाम है। अत: कषाय की मन्दता रूप पुण्य तत्त्व आत्म-विशुद्धि का निमित्त होने से उपादेय है।

(२) कषाय की मन्दता और मन्द कषाय में अन्तर है। जहाँ कषाय की मन्दता पुण्य रूप है वहाँ मन्द कषाय भी पाप रूप है। कषाय की मन्दता से शुभपरिणाम होते हैं और उससे पुण्य तत्त्व में अभिवृद्धि होती है, जबकि मन्द कषाय से भी अशुभ परिणाम ही उत्पन्न होते हैं और उनसे पाप तत्त्व की अभिवृद्धि होती है। इस प्रकार कषाय की मन्दता पुण्य का हेतु है, जबकि मन्द कषाय पाप के हेतु हैं।

(३) कषाय की मन्दता से हुई पुण्य की अभिवृद्धि आत्म-विशुद्धि का हेतु होने से मोक्ष की उपलब्धि में साधक है। अत: पुण्य मोक्ष का साधक होने से उपादेय है, जबकि पाप मोक्ष में बाधक होने से हेय है।

(४) पुण्य पाप का प्रक्षालन करता है, अत: पुण्य सोने की बेड़ी न होकर सोने का आभूषण है। बेड़ी बन्धन में डालती है, आभूषण नहीं। बेड़ी बाध्यतावश धारण करनी पड़ती है, जबकि आभूषण स्वेच्छा से धारण किया जाता है। अत: बेड़ी से हम इच्छानुसार मुक्त नहीं हो सकते हैं किन्तु आभूषण से इच्छानुसार मुक्त हो सकते हैं। अत: आभूषण रूप पुण्य के क्षय का कोई उपाय किसी साधना में निर्दिष्ट नहीं है।

(५) दया, दान, करुणा, वात्सल्य, सेवा आदि सद्प्रवृत्तियों से बन्ध नहीं होता है। बन्ध तो तभी होता है, जब कर्त्ता में फलाकांक्षा, निदान कर्तृत्व या भोक्तृत्व रूप कषाय परिणाम हो। संक्षेप में शुभयोग के साथ रहा हुआ कषाय भाव ही उन कर्मों के स्थिति बन्ध का कारण होता है। शुभ योग कर्म बन्ध का कारण नहीं होता है।

(६) पुण्य स्वभाव है, स्वभाव का नाश नहीं होता है। पुन: जो स्वभाव होता है, वही धर्म है। पुण्य स्वभाव है अत: वह धर्म है। पुन: स्वभाव का त्याग सम्भव नहीं है, अत: 'पुण्य त्याज्य नहीं हैं। यही कारण है कि तीर्थंकर केवलज्ञान की प्राप्ति के पश्चात् भी लोककल्याण या प्राणियों के प्रति अनुकम्पा की दृष्टि से ही तीर्थ प्रवर्तन, धर्मोपदेश आदि प्रवृत्ति करते हैं। अत: पुण्य कभी भी त्याज्य नहीं है, वह सदैव ही उपादेय है।

(७) पुण्य केवल आस्रव या बन्ध रूप नहीं है, अपितु संवर और निर्जरा रूप भी है, अत: पुण्य हेय नहीं उपादेय है।

(८) पुण्य-पाप कर्म का सम्बन्ध उनकी फलदान शक्ति-अनुभाग से है, स्थिति बन्ध से नहीं है।

(९) जैन दर्शन में वीतरागता की उपलब्धि के लिये रागादि पापों को ही त्याज्य कहा है, पुण्य को नहीं। अत: आस्रव, संवर, निर्जरा, मोक्ष आदि तत्त्वों के भेद-उपभेद का प्रतिपादन पाप को लक्ष्य में रखकर ही किया है, पुण्य को लेकर नहीं।

(१०) जैन कर्म-सिद्धान्त में जीव के स्वभाव व गुण का घातक घाती कर्मों को ही कहा है, अघाती कर्मों को नहीं। अघाती कर्मों की असाता वेदनीय, नीच गोत्र, अनादेय, अयशकीर्ति आदि पापप्रकृतियों की सत्ता भी जीव के केवलज्ञान, केवलदर्शन आदि किसी भी गुण की उपलब्धि में बाधक नहीं है। अत: पुण्य प्रकृतियों को जीव के किसी गुण की उपलब्धि में एवं वीतरागता में बाधक मानना सिद्धान्त विरुद्ध है।

(११) पुण्य-पाप दोनों विरोधी हैं। अत: जितना पाप घटता है उतना ही पुण्य बढ़ता है। पुण्य के अनुभाग की वृद्धि पाप के क्षय की सूचक है। पुण्य के अनुभाग के घटने से पाप कर्मों के स्थिति और अनुभाग बन्ध नियम से बढ़ते हैं।

(१२) पुण्य के अनुभाग का किसी भी साधना से यहाँ तक कि केवल समुद्घात से भी क्षय नहीं होता है।

(१३) चारों अघाती कर्मों की पुण्य प्रकृतियों का उपार्जन चारों कषायों के घटने से व क्षय से होता है।

(१४) पुण्य त्याज्य नहीं है, पुण्य के साथ रहा हुआ फलाकांक्षा निदान, भोक्तृत्वभाव कर्तृत्वभाव रूप कषाय व पाप त्याज्य है। जैसे गेंहू के साथ रहे हुए कंकर-मिट्टी एवं भूसा त्याज्य है, गेहूँ त्याज्य नहीं है।

(१५) पुण्य का अनुभाग बढ़कर चतु: स्थानिक हुए बिना सम्यग्दर्शन और उत्कृष्ट हुए बिना केवलज्ञान नहीं होता है। अत: पुण्य आत्म-विकास में, साधना में बाधक व हेय नहीं है।

यह तो हमने लोढ़ाजी की स्थापनाओं की संक्षिप्त झलक दी है। उन्होंने अपनी कृति के अन्त में ऐसे एक सौ इक्कीस तथ्य प्रस्तुत किये हैं, जो पुण्य की उपादेयता को सिद्ध करते हैं। वस्तुत: उनकी ये स्थापनाएं किसी पक्ष-विशेष के खण्डन-मण्डन की दृष्टि से नहीं, अपितु जैन कर्म सिद्धान्त के ग्रन्थों के गम्भीर आलोडन का परिणाम

है। वे मात्र विद्वान् नहीं हैं, अपितु साधक भी हैं। उनके द्वारा इस कृति की रचना का प्रयोजन उनके अन्तस् में प्रवाहमान करुणा की अजस्रधारा ही है। उनका प्रतिपाद्य मात्र यही है कि धर्म और आध्यात्मिकता के नाम पर सेवा और करुणा की सद्प्रवृत्तियों का समाज से विलोप न हो। क्योंकि मनुष्य की मनुष्यता इसी में है कि वह दूसरे प्राणियों का रक्षक और उनके सुख-दु:ख का सहभागी बने।

सन्दर्भ :

१. **अभिधानराजेन्द्रकोश,** खण्ड ५, पृष्ठ ८७६.
२. **जैनसिद्धान्तबोलसंग्रह,** भाग ३, पृष्ठ १८२.
३. **तत्त्वार्थसूत्र,** ६/४.
४. **योगशास्त्र,** ४/१०७.
५. **स्थानाङ्गटीका,** १.११-१२.
६. **जैनधर्म,** पृष्ठ ८४.
७. **समयसारनाटक,** उत्थानिका २८.
८. **भगवतीसूत्र,** ७/१०/१२१.
९. **स्थानाङ्गसूत्र,** ९.
१०. **भगवद्गीता,** १८.१७.
११. **धम्मपद,** २४९.
१२. **सूत्रकृताङ्ग,** २/६/२७-४२.
१३. **जैनधर्म,** पृष्ठ १६०.
१४. **दर्शन और चिन्तन,** खण्ड २, पृष्ठ २२६.
१५. **अनुयोगद्वारसूत्र,** १२९.
१६. **दशवैकालिकसूत्र,** १२९.
१७. **सूत्रकृताङ्ग,** २/२/४, पृष्ठ १०४.
१८. **दशवैकालिक,** ६/११.
१९. **कर्मग्रन्थ,** प्रथम भाग, भूमिका, पृष्ठ २५-२६.



Introduction To Dr. Charlotte Krause : Her life and Literatur

The present trend of comparative and critical Indological studies starts with the encounter of European-scholars to Indian heritage in the 19th century. Among these European scholars, who took keen interest in Indological studies (the study of Indian philosophies, religions, culture and literature as well written in oriental languages such as Vedic Chāndas, Saṁskṛta, Prākṛta, Pāli, Apabhraṁśa, Old Gujarati and Rājasthānī), the Germans were on the top rank. The German poet Heinrich Heine has rightly remarked "Let the Portuguese, the Dutch and the English plunder India of her material wealth. We Germans would rather dip into her spiritual and intellectual riches." In the field of Indological studies the contribution of German scholars such as Maxmullar, Albrecht Weber, Hermann Jacobi, Ernest Leumann, Walther Schubring, Johannes Hertel, Helmuth Von Glasenapp, Ludwig Alsdorf, Gustav Roth, Klaus Bruhn and others is matchless. In the galaxy of these German scholars, who devoted themselves in Indological studies in general and Jainological studies in particular, the name of Charlotte Krause shines as a brighter star. She has made a significant contribution to the Indological studies. Born in Germany on May 18, 1895 Charlotte Krause received her Ph. D. Degree from Leipzig University on 'Nāsaketarī Kathā : An Old Rājasthānī Tale' with a grammer of old Rājasthānī, in the year 1920 at the age of 25 years only. She had an opportunity to work with Johannes Hertel, an eminent scholar of Indian narrative literature. While working as a fellow and Assistant Professor of Indian Comparative Philology in Leipzig University, she wrote a critical and comparative exhaustive article on a newly discovered version of the Jaina *Pañcatantra* in old Gujarati and thus she established herself as a scholar of Indology in general and Jainology in particular. Her role in the establishment of

a Centre of Jaina Studies in the Institute of Indology at the university of Leipzig was conspicuous and significant one and it was the reason that she was given two years academic leave of absence in order to have a first hand knowledge on Jaina religion, Culture and Literature. For this very purpose she visited India in the year 1925. In March 1926 she decided to have a wide tour of Jaina centres and to meet various Jaina Ācāryās and scholars. She got influenced with the calmness of mind of Ācārya Vijayadharmasūrijī, Muni Maṅgala-vijayajī and Muni Jayantavijayajī. Though she had came India only to have a first hand knowledge of Indian philosophies, Culture and Literature, but being impressed with the high spiritual ideals and way of living of some Jaina saints she changed herself into a real devotee of Jaina religion. The contribution of Dr. Charlotte Krause to Jainism henceforth is two-fold – firstly as a scholar of Jainology and secondly as a true follower of Jainism. In the biography of Dr. C. Krause Dr. Luitgard Soni has rightly observed, "She integrated her will into the life-style of the (Jaina) monks and nuns and travelled with them on foot from Shivapuri to Bombay. She came in direct contact with the life in India with its customs, dia-lects, various religions and sects and many Jaina communities."

She was so overwhelmed with etherial elegance of Jainism that during her stay at Beawar, she publicly announced her decision to take the Jaina vows of non-violence, non- possession etc. till the life. She changed her name from Charlotte Krause to Subhadra Devi. Though by birth she was a German and by faith a Christian, but putting aside all her past religious inclinations she willingly adopted the life of a Jaina lay devotee (Śrāvaka) in a real sense.

I have had the privilege of being in close contact with this celebrated lady. She visited my native place Shajapur (M. P.) many times on her way from Shivapuri to Ujjain and Bombay. Then she was Inspectress of Schools of Gwalior state and latter on of Madhya Bhārata. I recall the first meeting with her, when she was staying in a Rest house at Shajapur. She requested to my maternal brother to

seè her in the Rest house in the early morning so that she could offer her pūjā in the Jaina temple. I met her with my brother and then I came to know that she was a staunch devotee of Jainism and did not take any thing, even a glass of water without visiting Jaina temple and having *Darśana* of *Jina* image. After that time whenever she came to Shajapur, she used to visit Jaina temple with my maternal brother. Next time I met her at Gwalior in her old age. At that time she had returned back to the Christianity and was living in a campus of Roman Catholic Church at Gwalior. I was working as a lecturer of Philosophy in the M. L. B. Arts and Commerce College, Gwalior (1964-1967). In Gwalior I visited her first time with Prof. G. R. Jain – the author of *Jaina Cosmology : Old and New* – a commentary on the fifth chapter of *Tattvārtha-sūtra.*

As I remember, at that time we had a long discussion on the holy symbol of *Swastika*. This was for the first time I could evaluate and appraise her depth of knowledge about oriental studies particularly, Jainism. But in her old age, her faith towards Jainism and Jaina community had been shakened. It was very pathetic and painful experience for me that the Jaina community could not be able to offer proper regard and service to this great scholar and devotee of Jainism and that is why she had to spend her old age in a campus of Christian church. In this particular case I was compelled to think that what has happened to our basic principles of *Swadharmīvātsalya, i.e.* the service towards our fellow religious beings ? Who is responsible for all this ? In my humble opinion it is the indifference of Jaina community towards the scholars, particularly the foreign scholars and devotees of Jain-ism. We should learn a lesson from it. We Jainas are completely unable to estimate her sacrifices she made for the noble cause of Jaina religion and Jaina studies. She had not only resigned from her university services, but left her relatives, nation, nationality and even her religion. How sad it is that we failed to provide her proper care and service in her old age, when she was badly needed for. In respect to

her great contribution to Jainological studies, ours return was nothing but disdainful. As I came to know from her biography, that after her retirement from the post of a curator in the Scindia Oriental Institute, Ujjain and Deputy Inspector General of Female Education in Gwalior state, she approached some Institutes of Jainological Reseaerch to get a research assignment but she failed. Was it not condemnable that we could not adjust to such a dedicated scholar in the field of Jainological studies. My estimate is that she had a pain of not being well recognised by Jaina community and at the result she developed indifference towards Jaina community and returned back to the Roman Catholic faith. She spent rest of her life till death (January 27, 1980) in the campus of the Roman Catholic Church, Gwalior, depending on the very small amount of her pension, without any financial support from Jaina community.

Well it is true that after her final establishment in India, some of her publications were more or less the reflections of a western observer on the social status of Jainas than a serious research work. They were critical in nature and so that they remain unable to have a good appreciation from the Jaina community. I am of the opinion that this was also one of the cause of indifference of Jaina community towards Dr. Charlotte Krause. But her articles/ works written in last quarter of her life got much recognition and appreciation in scholarly world. Dr. Charlotte Krause wrote in several languages such as German, English, Hindi and Gujarati on various aspects of Jaina philosophy, religion, ethics, rituals and narratives. In spite of her great contribution to the Jinistic studies no efforts were made to publish her works in a book form.

It is for the first time that with the efforts of Shri Hazarimullji Banthia, Pārśvanātha Vidyāpīṭha is publishing her complete works with a view to let the scholars know her contribution in the field of Indology in general and Jainology in particular. This present volume contains her fifteen articles and edited works in English, Hindi and Gujarati written on different aspects of Jainology.

In her essay on "The Kaleidoscope of Indian Wisdom", she had beautifully discriminated the spheres of Science and Religion and has mentioned the limitations of religious thinking and a need for philosophical thinking. While dealing with Indian philosophical schools she had classified them into Vedic and Non-Vedic instead of *Āstika* and *Nāstika* as other schools did.

In her division she included Sāṅkhya and Yoga into Vedic trend, but really these two schools do not belong to the Vedic trend but to the Śramaṇic trend. According to some scholars even Nyāya and Vaiśeṣika schools do not fall under the category of Vedic trend. These two schools, however, accept the authority of *Vedas*, but so far as their philosophies are concerned they have their independet origin. I am of the opinion that among the different schools of Indian philosophy it is only the Mīmāṁsā school which has purely a Vedic origin. Though Vedānta is also considered to be of Vedic tradition, but in my opinion Vedānta is not based on the Vedas only. In real sense it is based on the *Upaniṣadas* and the *Upaniṣadas* are neither the blind supporter of Vedic ritualism nor they accepts the materialistic approach of the *Vedas*. On the other hand, they criticise Vedic ritualism and their materialistic philosophy in the same fashion as the Jainism and Buddhism do. They are spiritualistic and rich in profound philosophical thought.

In this essay Dr. Charlotte Krause presents a brief survey of the central concepts of different Indian philosophies. While discussing these schools she has mentioned each and every branch in detail which were remain in course of time. While men-tioning the different branches of Vedānta she has listed some newly born subsects of Vedānta such as Ārya-samāja, Prārthanā-samāja and Brahma-samāja. In her lists of different shades of Vedānta, however, we do not find the names of Aurobindo school and the practical Vedānta of Rāmakṛṣṇa and Vivekānanda, but it was not on part of her negligence, really at that time they were not prominent. This essay shows her minute observation and detailed study of each

and every branch of Indian Philosophy.

In her second essay, "The Interpretation of Jaina Ethics", she starts with the comparison of the outlook of the modern Europeans and Indians towards the way of living. She rightly observes, "it is true that our intellect is at present absorbed in technical and scientific problem but only a few centuries ago it was so in problem of how best to win the grace of God. ... ... It is true that our studying and teaching has all worldly ends, ... but only some centuries ago there existed no other science but Theology, the knowledge of God and all the other disciplines were its subordinate branches. Modern India represents exactly the state of Medieval Europe, with its religio-centrical conception of the problems of life." ... ... Religion is the starting point and aim of all and everything. According to Dr. Charlotte Krause, sacred writings of Indian religions are not a subject of research or mere have a theoretical import as they are to the western scholars, but their study is indeed one of the practical import. They are being put fully into action. While interpreting the Jaina ethics, she also accepts the same fact. In this essay while dealing with the theoretical aspect of Jaina ethics, she discusses the main features of Jaina *Karma* Theory and accepts that this *Karma* theory is the fundamental postulate of Jaina ethics. On the concept of practical aspect of Jaina Ethics, she has dealt with the concepts of *Jinakalpa* and *Sthavirakalpa, Puṇya* and *Pāpa, Āsrava* and *Saṁvara,* five *Samitis* and three *Guptis,* twenty-two Hardships, ten virtues, 12 reflections, five *cāritrās,* five great vows of monk, twelve vows of the house-holder and twelve types of austerities as a means of *Nirjarā.* On the ritualistic aspect of Jaina ethics, she discusses the six essential duties (*Āvaśyakas*). In this essay the aspects of Jaina Ethics discussed, are descriptive in nature. She has not made any critical evaluation of them, except a sense of admiration.

The third essay of the present volume "The Heritage of Last Arhat" deals with the fundamental teachings of Jainism. At the very

outset of this essay, on the basis of Jaina theory of *Anekāntavāda,* Dr. Krause propounds the relativity of religious truth. She rightly observes that, "each of the various religions on the earth appears to make us see a different aspect of truth-divine. How then we are entitled to speak of merit in only one or another of them." Really, Jaina theory of Relativity, *i.e. Anekāntavāda,* teaches us regard for other religions and faiths and thus establishes religious harmony and fellowships of faiths on the earth. So far as the criterion of an ideal religion is concerned, Jainism holds that it is the tranquility and equanimity of mind of individual and society, provided by a religion which can be the touch-stone of an ideal religion. According to Dr. Krause Jainism fulfils this criterion of an ideal religion, because it warrants for perfect social welfare through this doctrine of non-violence and mental equanimity or tranquility through its doctrine of passionlessness, *i.e.* total detachment towards worldly things. Only through complete detachment (*Aparigraha*) and practice of non-violence one can attain spiritual and social peace. She firmly holds that "Jainism promulgates self realization as the aim of individual life, which at the same time also forms the basis of the well-being of all that lives." The perfect soul is one, who is completely free from all the passions, desires and attachments. This perfectness of soul, according to Jainism, can be attain through self-restraint (*Saṁyama*) and renunciation (*Pratyākhyāna*). Dr. Krause concludes this essay suggesting the necessity of applying Jaina principles to modern social problems, because it is through the application of these principles perfect social and individual welfare can be achieved.

In the fourth essay "The Jaina Canon and Early Indian Court Life", Dr. Krause propounds that the Jaina Canon not only supply us the data regarding the religious dogmas, ethical code, philosophical ideas and the history of its propagation and propagators, but it also presents some glances of early Indian court-life. It is true that some of the canonical works as well as Jaina narrative literature have full

cultural material of that period. But it is unfortu-nate that while writing cultural history of India, this material has not been properly utilised. Though in this article Dr. Krause has shown the richness of Jaina canonical and narrative literature regarding its cultural data which reflects on the life of Indian society at that time. Here on the basis of Jaina canon she has mentioned that the system of *Pardāh* was a well established custom prevailing in Indian society, particularly in royal class, before the arrivals of Mohamme-dans to India. This essay lacks the original references from the Jaina canons. Had the author supplied the references, it would have been a good research article.

In the fifth article "The Social Atmosphere of Present Jainism", Dr. C. Krause has given her accounts of observations of social atmosphere of Jainism. She propounds that not only a person who took his birth in the Jaina community or in Jaina family, is a Jaina, but the persons who took their birth in other communities and the followers of align faiths or religions, if they observe the fundamental principles of Jainism, such as non-violence etc. and have a regard towards Jaina ideals can also be included in Jaina community. Jainism is not a birth based religion, it is the religion of those who observes its ideals in their lives. The second aspect of this article on which Dr. Krause has stressed more is that Jainism was the religion, which strongly opposed the birth-based four-fold *Varṇa* system as well as caste system of Indian society, but unfortunately at present it is completely in the grip of that *Varṇa* and caste system. In this regard she had made a complete survey of the rites and rituals, prevalent at that time in different Jaina castes and her observation were true in that regard. But we must be aware of the fact that in these fifty to sixty year this position altogether has changed and that rigidness of class and caste system in Jainism had become only a historical fact. She has expressed her anxiety regarding the prevailing bitter sectarianism in Jainas which is totally against their liberal outlook of *Anekāntavāda*. Her observations

regarding the sectarian quarrels in Jainas are worthy to note. She mentions "the Śvetāmbaras and the Digambaras being still engaged in furious mutual quarrels about the possession of certain places of pilgrimage, such as Antarikṣa (near Akola), Pāvāpurī, Rājagṛhī, and Sammetaśikhara (Bihar), Keśarīyajī (near Udaipur) and Makṣī (near Ujjaina) and others, millions have been spent in those fruitless strives. On the other hand, the idolatrous and two non-idolatrous Śvetāmbara sect, *viz.* the Sthānakavāsīs and Terāpanthīs are violently fighting each other about insignificant dogmatic discrepancies, whereas Digambaras too has its own troubles. Within the aforesaid sects there are again subsects, parties and schools of opinions which are not friendly with one another, but often enough cross each others schemes, the one spoiling, what positive work the other may have achieved. So there can be no doubt that stopping all these fruitless strives many power would become free to engage in the necessary work of caste-reform and uplift." It is to be noted that her remarks regarding Jaina society are still true and one can learn lesson from it. This essay is less a result of her research in Jainology than the reflections of a committed observer, who had lived in Jaina society with keeping his eyes on each and every activity of the society. Thus this article is an outcome of her minute observations and sincere reflections. The Hindi version of this article is also being published in this collection in its Hindi section.

In the sixth article of the English section "Pythagoras : The Vegetarian", Dr. Krause has enlightened us regarding the great Greek thinker Pythagoras and his vegetarianism. It shows that the vegetarianism is not only supported by Jainism alone. There were some great thinkers in Greek, contemporary to Mahāvīra, who preached the vegetarianism in the same fashion as Jainism do. It is worth mentioning that before Mahāvīra his predecessor Pārśva and Ariṣṭanemi also propounded the concept of vegetarianism in human society.

In the seventh essay of this volume "Siddhasena Divākara

and Vikramāditya", Dr. Krause has established the contemporaneity of Siddhasena Divākara and Vikramāditya on the basis of *Guṇavacanadvātriṁśikā* of Siddhasena, which was according to her composed to address a royal patron who is revealed as such a unique personality, standing out in bold relief against a background of warfare, empire building and ingenious rule. On the basis of these qualities of a king Dr. Krause infer that this *Guṇavacanadvātriṁśikā* is composed by Siddhasena in the honour of Samudragupta, the father of Candragupta II, the Vikramāditya. She has supported her thesis on the basis of some Jaina and non-Jaina literary and epigraphical sources. Regarding the date of Siddhasena Divākara, she is of the firm opinion that he belongs to fifth century A.D. I also favour this date of Siddhasena, which I have already proved in my Introduction to Dr. Shriprakash Pandey's Hindi work "*Siddhasena Divākara : Vyaktittva and Kṛtittva*" published from Vidyāpīṭha in 1997. If we accepts that Siddhasena Divākara belongs to fifth century A.D. then there is no difficulty in accepting the contemporaneity of Siddhasena Divākara and Candragupta II, the Vikramāditya. The Kṣapaṇaka, one of the nine jewels of Vikramāditya was no other than Siddhasena Divākara, as she has concluded.

This article of Dr. Krause is really a master piece of her research work. It is well documented and supported by 205 references from Jaina and non-Jaina sources, literary as well as epigraphical.

The eighth article, "Jāvaḍa of Māṇḍu", is about a person who lived in sixteenth century of Vikrama era and was famous for his charity. In this essay Dr. Krause has presented the biography of Jāvaḍa on the basis of some literary and epigraphical evidences found in Jaina sources. In his biography Dr. Krause has mentioned his lineage, official and social position, his pilgrimages, welcoming the Guru and acceptance of the twelve vows. While accepting the fifth vow of the limitations of one's property, Jāvaḍa reserved following quantity of his possessions for his lifetime 1,00,000 mounds of

grain; 1,00,000 mounds of *ghī* and oil; 1,000 ploughs; 2,000 plough oxen, 10 houses and markets; 4 mounds of silver; 1 mound of gold; 4 mounds of pearls; 300 mounds of gems; 10 mounds of base metal; 20 mounds of coral; 1,00,000 mounds of salt; 2,000 mounds of molasses; 200 mounds of opium; 2,000 asses; 100 carts, 1,500 horses; 50 elephants, 100 camels; 50 mules; 20,00,000 Ṭaṅkas.

By these figures one can infer the richness of Jāvaḍa, a businessman of ancient Māṇḍu of the fifteen-sixteen century. In this article Dr. Krause has mentioned the generous charity of Jāvaḍa temples he had built and statues he had installed. Among these statues there was one statue of gold weighing 10 kg. and one of silver weighing 20 kg. In the consecration festival he had spend 15 lacs of rupees. From all these informations which Dr. Krause had supplied, we can have an idea of her depth in the study of Jaina history as well as the richness and charitable attitude of Jaina *śrāvakas* of that time.

In the English section of this volume last two articles are about the biography of Vijayadharma Sūri and his sayings. It is worthy to mention that Vijayadharma Sūri was not only her teacher for Jainological studies, but also a spiritual guide. She had great regard for him. In this biography she has mentioned his popularity among Jains and non-Jains, his eminent personality, literary and editorial activities, scholarship and educational works. The main contribution of Vijayadharma Sūriji is promoting Jainology across the sea in western scholars, significant reforms in monastic customs and his attempt to solve the *Devadravya* and another disputes prevailing in Jaina society.

In Sayings of Vijayadharma Sūri, Dr. Krause has chosen meticulously the inspiring sayings of his revered teacher from his preachings and sermons for which she deserves for thanks from the Jaina society as well as the individuals interested in their spiritual upliftment. These sayings can play a vital role in the spiritual development of human personality.

Hindi section of this book includes two important articles of the celebrated author namely "Jaina Sāhitya aura Mahākāla Mandira" and "Ādhunika Jaina Samāja kī Sāmājika Paristhiti". The latter is the Hindi version of her English article "Social Atmosphere of Present Jainism", which I have already commented upon. In the former article, in the beginning, Dr. Krause has supplied various literary evidences proving the existence of Mahākāla temple at Ujjain. No doubt she has made exhaustive survey of Jaina literature in support of her viēw starting from '*Kahāvalī*' of Bhadreśvara (1205 A.D.) to *Upadeśaprāsāda* of Vijayalakṣmī Sūri (1778 A.D.). She has also quoted Avantisukumāla episode, cited in some early canonical and non-canonical works of the Śvetāmbaras and Digambaras in support of the existence of Kālakādīśvara or Kuḍaṅgeśvara or Kuṭumbeśvara with Mahākālavana which later on said to be changed as Mahākāla Mandira. It may be a matter of dispute whether a Jaina temple was changed into Mahākāla Mandira or the Śivaliṅga, after the recitation of Siddhasena Divākara's eulogy in its praise, itself got changed into the Jaina image or whether Vikramāditya became a Jaina or not, but literary, archaeological and epigraphical evidences refers to in her work establishes her as a serious scholar, ever worked on this subject.

Gujarati section includes some important articles authored by Dr. C. Krause namely, Śrī Hemavimala Sūri kṛta Tera Kāṭhīyāṇī Sajjhāya, Bhānumeru kṛta Candanabālā Sajjhāya, Kaiṅka Śaṅkheśvara Sāhitya, Śrī Phalavardhi Pārśvanātha Stuti along with some reviews. These articles shows her efficiency of Gujarati language and deep insight as well as interest into hymnical literature. Indeed it was her laudable effort.

Last book section includes her two famous work "Ancient Jaina Hymns" and "Nāsaketarī Kathā". In Ancient Jaina Hymns she has edited some very important hymns noted amongst are 'Munisuvrata Stavana', 'Śrī Devakulādinātha Stavana', 'Śrī Varakāṇa-Pārśvanātha-Stotraṁ', 'Śrī Sīmandhara Svāmi Stavana',

and so on in which she not only edited the text of hymns but has supplied all its variants and notes etc. which further shows her talent and scholarship.

Appendix of the book includes some articles dealing with her life, glimpses from the letters of German as well as Indian Indologist about Dr. Krause, some 'Dohās' written in her praise, Janmādivṛttaṁ and Abhinandanaṁ by Dr. Kapildeva Dwivedi, German Jaina Śrāvikā Dr. Charlotte Krause, a Hindi article of Shri Hazarimull Banthia and at last her Will.

Being a multifarious writer she has written so many articles and monographs and different aspects of Jaina literature which are not possible to accommodate in one and single volume. Her some articles and books which are left in this volume will be published in its next volume.

It is my privilege that I was asked to write an Introduction on the works of such a great scholar. I thank to the authorities of the Pārśvanātha Vīdyāpīṭha for their commendable decision to publish this work. I must record my sincere thanks to Dr. Shriprakash Pandey who has not only edited this work but also supplied me all necessary literature to prepare my introduction.

I hope this work will be expedient not only to the researchers working in the field of Indology particularly on Jaina Literature but to the enlightened individuals also.

Sagarmal Jain

Vaiśākha Pūrṇimā
Shajapur.

Foreword : Aparigraha The Humane Solution

Our age is the age of science and technology. Science and technology have done a great service to the mankind by providing amenities of pleasant living. Scientific discoveries have enabled man to master Nature. But, now, man is showing the defects of 'slave turned master.' The scientific achievements and mastery over the nature have turned man into a selfish being open to temptation. Selfishness and temptation have eroded our spiritual and moral values of self sacrifice and service to the needy. In their place is the mad scramble for power and wealth, a mad race that has endangrered our social institutions. these values can servive only if we check our selfish and greedy attitudes. Lord Mahāvīra in *Uttarādhyayana Sūtra* has rightly observed 'where there is inner desire for material gain and possession of worldly objects of enjoyments, there is greed. The limitless desire for power and wealth has caused man to lose his sense of respect for others. This attitude, in turn, has created a gulf between haves and have nots, and this has resulted in the loss of mutual faith and sense of brotherhood. The desire for power and possession has also given birth to the race for atomic weapons. This desire to accumulate more power and weath is called '*parigraha*'. And not to accumulate power and possession beyond minimum requirment constitutes the principle of *aparigraha*, a constituent of *pañcayāma* of Lord Mahāvīra's philosophy. Though Mahāvīra has laid stress on the principle of non-violence (*ahiṁsā*) yet, he also observed that in the root of all violence and war there is the lust for power and possession. Therefore, in order to restore peace and brotherhood and to uproot violence we will have to develop mutual faith and sense of security. Every one has right to use the gift of the nature, but has no right to deprive others of using these gifts.

In Jainism and Pātañjala-yoga system the principle of non-possession (*aparigraha*) is accepted as fifth vow, but if viewed seriously it is the first basic principle. Jaina thinkers are of the view that if this very principle is violated all other vows automatically becomes violated because at the root of violence and theft there is lust for power and possession.

According to ***Uttarādhyayana Sūtra*** **the root** of all mental and

physical and mental sufferings is the disire for worldly enjoyment, therefore only detachment from the worldly enjoyment can put an end to suffering. While materialism seeks to eliminate suffering by fulfilment of human desire it can not eradicate the primal cause from which the stream of suffering wells up. Materialism does not have an effective means to quench the thirst for possession of worldly objects. It only attempts at temporary appeasement of a yearning, and this has the opposite effect of causing the desire to flare up like fire fed by an ablation of butter. *Uttarādhyayana* states : Even if an infinite number of mountains of Gold and silvers, each as large as the Kailaśa are conjured up, they would not be able to satisfy the human desire for possessions because the desire is as infinite as the sky.

The concept of *aparigraha* does not forbid an individual to fulfil his basic needs such as hunger, thirst, etc. The fundamental message of this principle is to eradicate the desire for power and possessions and lust for sensuous enjoyments. This principle also makes us aware of every living beings' right to nature's bounty. It questions the very concept of possession, for possession implies denying and depriving the others of their right to that which is possessed. This truth is stated in *Mahābhārata* too: so for as fulfilment of one's organic need is concerned every one has the right to use the gifts of nature but one who tries to take possession of them and deprives others from them, is a thief.

Jainism is not alone in its belief that the root cause of suffering is attachment towards worldly objects and lust for their enjoyment. All spiritual traditions are agreed on this. In *Daśavaikālika, aparigraha* is defined as *amūrchā* i. e. the detachment. *Tattvārthasūtrā* of Umāsvāti also supports this view. Amṛtacandra also points out that he who is unable to root out the lust for enjoyment and attachment to his belongings, can not be said to have been established in the vow of non-possession, even if he gives up all his belongings. In the real sense attachment is an obstacle in the way of emancipation. Attachment is born out of 'mineness' which ultimately binds the soul. All misteries suffered by the self are born of attachments towards the alien associations and so it is imperative to abandon the sense of 'mineness' with regard to these external objects.

Jainism regards abandoning of 'I and mine sense' and attachment as the only way for self-realisation. As long as there is attachment, one's attention is fixed not on self (soul), but on not-self, i. e. material objects. Materialism thrives on this objects-oriented attitude or indulgence in the not-self. According to Jaina philosophers, the identification with the not-self and regarding worldly objects as a source of happiness are the hallmarks of materialism. It is true that by detached attitude one can free oneself from his mental as well as physical suffering. Jainisn maintains that the attachment is responsible for all our worldly sufferings. The most intense *vāsanā* is called *granthi* which is nothing but a deep attachment towards worldly objects and a desire for their enjoyment. The classical term for Janism is *Nigganthadhamma.* The term *nigganitha* means one who has unknotted his *hṛdaya-granthi*, or one who has eradicated his attachments and passions. The term 'Jaina' also conveys the same meaning; a true Jaina is one who has conquered his passions. Mahāvīra says the attachment towards sensuous objects is the root of our worldly existence. The five senses alongwith anger, connceit, delusion and desire are difficult to conquer, but when the self is conquered, all these are completely conquered. There is a vicious circle in the origin of desire and delusion, desire is produced by delusion and delusion by desire. Attachment and hatred are the seeds of *karma* which have delusion as their source. *Karma* is the root of birth and death which is the sole cause of misery.

Aparigraha, one of the five *Pañcaśīlas* is truly a part of universal ethics. Its role in restoring peace and harmony in the world can not be neglected. It is needed to be closely associated with modern society, its economic growth, environment preservation. Consuming 'too much' or possessing 'too much' has become an object of social concern as this is a real threat to the social environment. *Aparigraha* is the solution as it means limiting consumption and acquisition.

The author of present title Dr. Kamla Jain has beautifully discussed these problems with their solution. In the first chapter of the book she has discussed consumerism as anti-human goal with various aspects of consumerism and their possible dangerous consequences. She has also thrown light on the different ways of controlling consumerism by establishing a solution in *ichhā-parimāṇa* (limiting one's desires). To

substantiate her views she has cited the views of eminent thinkers and scholars. She has laid stress on coordination of science, technology and economics with ethics.

In second chapter Dr. Jain has expressed concern over environmental degradation. She traces the march of science and technology and shows how man has learnt to control nature to suit his purposes. But nature has also provided man with the capacity to think and to understand that nature's gifts are to be used intelligently. Conservation of natural resources is as important as their exploitation. She suggests proper environmental education and the stablishing of agencies and institutions which can play an effective role in preservation and development of environments resources. In this context apart from discussing environmental degradation, she has tried to view the ecological issue from spiritualistic angle. She writes, "It is to be addressed to the people that mass rape of nature can be resisted only with spiritual strength. Our spirituality does not permit us to exploit nature for our self chosen purposes (p-69). For this to happen the author suggests the three fold practical ethics with (i) concept of co-existence (ii) concept of contentment (iii) concept of making best use of available resources.

Dr. Jain also points out that *aparigraha* is a realistic practical and rational principle with solid foundation in our social system. Defining vairous shades of *aparigraha* she stresses that it is *mūrchā* or *āsakti* that is in the root of all possessions, internal or external.

This book helps us to realize that *aparigraha, ichhā-parimāṇa* is not an abstract philosophy but it is a vision of life, providing us with the solution to number of problems that society is facing today.

Dr. Jain's first book "The Concept of Pañcaśīla in Indian Thought" published from our Institute in 1983 was welcomed by serious scholars of Indology from India and abroad.

In the present work she has analysed the concept of *aparigraha* in context of present day problems. In my opinion this work is a significant contribution in the field of socio-ethical studies. I am sure that the book will be well received by scholars as well as researchers. I must express my gratitude to Dr. Kamla Jain for approaching me to write the 'Foreword' to this work.

19 August, Varanasi. **Dr. Sagarmal Jain**

Spiritual Foundation of Jainism

Indian religious quest has two main stream- Vedic (Brahmaṇic) and Śramaṇic. Among the world's living religion, Jainism and Buddhism belong to the Śramaṇic trend of Indian culture. There were some other Śramaṇic religions also, but they either like Ājivakas disappeared in the course of time or like Sāṁkhya-yoga became part and parcel of great Hindu religion. These Śramaṇic traditions are spiritualistic and stereological in their very nature.

Religions are consist of two aspects-ritualistic and spiritualistic. The Vedic religion is ritualistic, while the Śramanic tradition in general is spiritualistic. Spiritualistic religions are those, which give more stress on self realisation than rituals. The word Adhyātma,[1] the Sanskrit equivalent of spirituality derived from adhitātmā, implies the superiority and sublimity of Ātmā, the soul force. The realisation of the self i.e. Ātmā is the sole aim of spiritualistic religions. In the oldest Jaina text Ācārāṅga we find the word such as 'Ajjhathavisohi', which cannotes the inner purity of self, spiritualism is nothing but the realisation of self in its complete purity. Purification of self is the sole aim of Jainism. According to Jainism the realisation of physical amenities or creature comforts is not the ultimate aim of our life. There are some higher ideals of life which are over and above the mere biological and economic needs of life; spirituality consists in releasing these higher values of life.

Jainism lays special emphasis on the renunciation of creature comforts and emancipation from worldly existence i.e. the cycle of birth and death. It may be accepted without any contradiction that these very ideals of renunciation and emancipations have been cultivated by the Śramaṇas. Asceticism is the fundamental concept of

* 35 Oswalseri, Shajapur (M.P.) 465001.

the Śramaṇic tradition, such as Jainism and Buddhism. It is on this ground, they differ from early Vedic-religion. The early Vedic seers are against asceticism and emphasized the material welfare of the individual and the society. They in their hymns were praising world existence and praying for their own health and wealth as well as of their fellow beings while the Śramaṇas were condemning this worldly existence and propounding the theory that this world of existence is full of suffering and ultimate goal of human life is to get rid of the cycle of birth and death. Austerity, renunciation, emancipation, atheism, supremacy of human beings over gods, equality of all living beings, opposition to the supremacy of Brahmins over other casts as well as the opposition to animal sacrifices and emphasis on moral virtues and higher values of life are some of the fundamental spiritual tendencies of Śramaṇic traditions in general and Jainism in particular. These concepts which were absent in earliest form of vedic religion were contributed by the Śramaṇas to Indian culture.

Does Jainism teach the Negation of Life?

In Jainism more stress is given on austerities and renunciation of worldly enjoyments with the result that there is a wide-spread misconception that it teaches the negation of life. It will, therefore, not be irrelevant here to point out that the applause of austerities and renouncement does not imply non-recognition of physical and material life. The recognition of spiritual values does not mean that physical and material values should be completely rejected. According to Jainism, physical values are not hindrances to spiritual development, but are rather subservient to it. It is mentioned in the Niśīthabhāṣya (4159) that. "Knowledge leads to salvation, the body leads to knowledge and food leads to (the nutrition of) body." The body is a vessel that ferries a person to the shore of eternal bliss. From this point of view, fulfillment of bodily needs has both value and importance, the body is means to liberation and therefore deserves care. But it must be noted that our attention should be fixed not on the vessel-the means, but on the shore-- the end to which it leads. As the vessel, body is a means and not an end. The recognition of physical and material values of life as means is at the core of jainism and its entire spirituality. Here we have a line of demarcation indicating the

difference between spiritualism and materialism.

In materialism, fulfillment of bodily needs and animal urges is an end in itself whereas in spiritualism it is only a means leading to the higher spiritual values. In Jainism both enjoyment and renunciation of worldly objects by an aspirant are needed for the cultivation of self restraint (saṁyama) and mental equanimity (samatva). The entire religious practices of Jainism aims at the development of an unruffled, unattached, dispassionate and peaceful life that is free from mental tensions and conflicts. The main issue is not the fulfillment or rejection of bodily needs but the establishment of peace in the life of individual as well as of society. Hence the fulfillment of bodily needs is welcomed to the extent to which it furthers this particular cause, but when it does not, ought to be rejected. This view is beautifully presented in the Ācārāṅga and Uttarādhyayana (32/100-107). They say, when the senses come into contact with their objects, then the concomitant sensations of pleasure or pain also arise. It is not possible in actual life to effectively alienate senses from the experiences of their objects and thus to exclude sensations of pleasures and pains. Hence what we must renounce is not the sense experiences but attraction or repulsion to them invoked in the mind. Attractions and repulsions (mental tensions) are the effects of the involvement of the self in pleasant or unpleasant sense-objects; they cannot arise in an unattached and indifferent person. Thus the essential teaching of Jainism is the eschewment of attachment, not the negation of life.

The Main Objective of Jain Spirituality

The main objective of Jainism is to emancipate man from sufferings. It tries to track down sufferings to their very root. The famous Jaina text Uttarādhyayana-sūtra says :

Kāmāṇugiddhippabhvaṁ khu dukkhaṁ
sawassa logass sadevagassa.
Jaṁ kāiyaṁ mānasiyaṁ ca kiñci
tassa antagaṁ gacchai viyarāgo. (32.19)

That the root of all physical as well as mental sufferings of everybody including the gods is the desire for enjoyment. Only a dispassionate attitude can put an end to them. It is true that materialism

seeks to eliminate sufferings, through the fulfillment of human desires, but it cannot eradicate the primal cause from which the stream of suffering wells up. Materialism does not have at its disposal an effective means for quenching the thirst of man permanently. Not only this, its attempts at the temporary appeasement of a yearning have the opposite effect of flaring it up like the fire fed by an oblation of butter. It is clearly noted in the Uttarādhyayanasūtra :

Suvaṇṇa-rūpassa upawayābhave
siyā hu kelāsasama asaṁkhayā.
Narassa luddhassa na tehiṁ kiñci
iccha u āgāsasamā aṇantiyā. (9.49)

That, even if an infinite number of gold and silver mountains, each as large as the Kailāsa, are conjured up, they would not lead to the final extinction of human desires, because desires are infinite like space. Not only Jainism but all spiritual traditions unanimously hold that the root cause of sorrow is attachment, lust or a sense of minenss, but the fulfillment of desires is not means of ending them. Though a materialistic perspective can provide for material prosperity, it cannot make us free from attachments and yearnings. Our materialistic outlook can be compared to our attempt of chopping the branches off while watering the roots of a tree. In the above mentioned Gatha it is clearly pointed out that desires are endless just as space (Ākāśa) and it is very difficult to fulfil all of them. If mankind is to be freed from selfishness, violence, exploitation, corruption and affliction stemming from them, it is necessary to outgrow materialistic outlook and to develop an attitude which may be described as spiritual.

Jaina spiritually teaches us that happiness or unhappiness is centered in the soul and not in worldly objects. Pleasure and pain are self-created. They are subjective in nature also. They do not depend totally on the objects, but depend also on the attitude of a person towards them. The Uttarādhyayanasūtra mentions :

Appā kattā vikattā ya, duhāṇa ya suhāṇa ya
Appā mittamamittaṁ ca, duppaṭṭhiya-supaṭṭhio. (20.37)

That the self (ātmā) is both the doer and the enjoyed of happiness and misery. It is its own friend when it acts righteously and foe when

it acts unrighteously. An unconquered self is its own enemy, unconquered passions and sense organs of the self are its own enemy. oh! having conquered them I move righteously.

In another Jaina text Āurapaccākkhāṇaṁ it is mentioned :

Ego me sasado appā ṇāṇadaṁsaṇasaṁjuo
Sesā me bahirā bhāvā, sawe samjogalakkhanā.
Tamhā samjogasambandhaṁ, sawabhāveṇa vosire.

The soul endowed with knowledge and perception is alone permanently mine, all other objects are alien to it. All the serious miseries suffered by the self are born of the individual's sense of mine or attachment towards these alien objects.

First of all, Jainism maintains that the attachment (Rāga) and delusion (moha) obscure our spiritual nature and are responsible for our worldly existence and suffering. The most intense vāsanā is *hṛdaya granthi*, which is a deep attachment towards sense-objects and worldly desires. The oldest name of Jaina sect is Nigganthа-dhamma. The word Niggantha means the one who has unknotted his hṛdaya-granthi, i.e., the "mine-complex;" it means, in other words, one has eradicated ones attachment and passions. The word, "jaina", also conveys the same meaning; a true jaina is one who has conquered ones passions. According to Lord Mahāvīra, "to reamin attached to sensuous objects is to remain in the whirl (Ācārāṅga, 1.1.5) The attachment towards sensous objects is the root of our worldly existence (Ācārāṅga, 1.2.1.). Further, it is also mentioned in the Ācārāṅga, "only he who knows the nature of the sensuous objects is possessed of self knowledge, scripture, Law (dhamma) and Truth (bambha)" (Ācārāṅga, 1.3.1). The five senses together with anger, pride, delusion and desire are difficult to be conquered, but when the self is conquered, all these are completely conquered (Uttarādhyayana, 9.36). Just as the female crane is produced from the egg and the egg from the crane, in the same way desire is produced by delusion and delusion by desire (Uttarādhyayana, 32.6). Attachment and hatred are the seeds of Karma, which have delusion as their source. Karma is the root of birth and death. This cycle of birth and death is the sole cause of misery. Misery is gone in the case of a man who has no

delusion, while delusion is gone in the case of a man who has no desire; desire is gone in the cases of a man who has no greed, while greed is gone in the case of a man who has no attachment" (Uttarādhyayana, 32.8). According to the Tattvārtha-sūtra, a famous Jaina text, perverse attitute (mithyā-darśana), non-abstinence (aviratil), spiritual inertia (pramāda), passions (kaṣāya) and activity (Yoga) -- these five are the conditions of bondage (8.1). We can say that mithyā-darśana (perverse attitude), mithyā-jñāna (perverse knowledge) and mithyā-cāritra (immoral conduct) are also responsible for our worldly existence or bondage. But perversity of knowledge and conduct depends upon the pervesity of attitude. Thus the perversity of attitutde, which is due to darśana-moha is one of the important factors of bondage. Non-absence, spiritual inertia and passion are due to the presense of perverse attitude. Though activities of mind, body and speech are considered the cause of bondage yet they are incapable of bondage unless they are following by perverse attitude and passions. They are only the cause of Āsrava (influx of kārmic matter), not the cause of bondage. Bondage is possible only through these three type of activities or yogas in the presence of perverse attitude and passions. The perverse attitude (mithyā-darśana) and the passions (kaṣāyas) are nutually cause and effect of each other just as the egg and the hen or the seed and the tree. We can not fix the priority of one over the other, passions are due to the perverse attitude and perverse attitude is due to the passions.

The Nature of Self

(a) Nature of Self as pure knower : Here naturally a question may arise, "what according to Jainism, is the nature of self? While defining the nature of self, the Acārāṅga mentions :

je āyā se vinnāyā je vinnāyā se āyā (1.5.5)

Self is the knower and the knower is the self, thus the real nature of self is regarded as pure knower. Modern psychology recognizes three aspects of consciousness-- cognitive, affective and conative. Among these three, the affective and conative aspects respectively correspond to enjoying (experiencing) and to doing (behaving). So long as the self manifests itself as the enjoyed or the doer, it is not

in its ideal state of pure knower, for, in this state, the mind constantly sways between "either-or i.e. alternative feelings of pleasure and pain or alternative desires. Hence the mental equanimity of self is disturbed. But when consciousness appears as the pure knower it can lead the self to a deep seated trance and free it from sufferings. A pure knower is not enamored of the objects of pleasure which come to him. He enjoys them indifferently, and is therefore not subject to attachment or bondage. It is mentioned in Samayasāra :

Jaha phaliyamaṇi suddho ṅa sayaṁ pariṇamadi
rāgāmadihiṁ.
Rāijjadi aṇṇehiṁ du so rattadihim davvehiṁ.
Evaṁ ṇāṇi suddho ṅa sayam pariṅamadi rāgamadihiṁ.
Rājjadi aṇṇehim du so rāgādīhiṁ dosehiṁ. (300-301)

Just as the quartz crystal gem is by nature pure and white and it itself does not really become coloured in the presence of coloured objects but it appears to be coloured for it reflects the coloured of the near object, similarly the pure knower does not modify itself into love etc. But by attachment and other defects it appears affected. Love, hatred and other thought activities are not the souls own modifications. They are due to kārmic matter or external objects. Really the soul is pure knower.

(b) Samatā as a Nature of Self : Sāmāyika (samatā) is the principal concept of Jainism. It is the pivot on which the ethics of jainism revolves. In English, we can translate it as equality, equanimity, harmony, integration and rightness. But none of these terms convey the complete meaning of the word Samatā (Samāika or Samāhi) in which it is used in Indian philosophy. And so it will be better to use it without translating into English. The word Samatā has different meanings in different contexts. Sometimes it means a balanced state of mind which is undisturbed by any kind of sorrow, emotional excitement, pleasures, pains, achievements or disappointments. Sometimes it refers to the kind of a personality which is completely free from the vectors of aversion and attachment, that is a dispassionate personality with a mental equanimity. The word Samatā also means the feeling of equality with the fellow beings. Loosely speaking, it also conveys the meaning of social equality and social integration.

Ethically, the term 'Sama' or 'Samyak' means rightness. Inspite of all its different shades of meanings the term samatā is associated with some kind of a psychological state of mind and it has some impact on our external, social and individual adjustments.

In a Jaina text known as Bhagavatisūtra, there is a conversation between Lord Mahāvīra and Gautama. Gautama asked Mahāvīra- "what is the nature of soul"? and Mahāvīra answered, "The nature of soul is equanimity." Gautama again asked, "what is the ultimate end of soul"? and Mahāvīra replied, "The ultimate end of soul is also equanimity (Viyāhapaṇṇatti, 1.9).

The view of Lord Mahāvīra that the real nature of soul is equanimity (samatā) is further supported by Acārya Kunda-kund. Kundakkunda's famous works known as Samayasāra, in which Jaina spirituality reach its culmination, deals with the nature of soul. In the whole of Jain literature he is the only ācārya who used the word 'samaya' or 'Samayasāra' for soul (Ātman). I think the Ācārya has purposely used this word for Ātman. So far as I know, no commentator of Samayasāra has raised the question : "why has Kundakunda used the word 'Samaya' for jiva or soul?" I think the word samaya may be a Prākṛta version of Saṁskṛta-word samah + yah which means one who has the quality of equanimity. i.e. Samatā.

Further the word Samayasāra can also be defined in the similar fashion. We can say that he who possesses Samatā as his essential nature is called Samayasāra.

Ācārya Kundakunda also equated the word 'samaya' with svabhāva or essential nature. He used the words svasamaya and para-samaya. Sva-samaya means real nature and para-samaya means resultant nature. Further, sva-samaya, i.e. real nature, has been explained as an ultimate end. In this way its ultimate end is equanimity or samatā.

Furthermore, according to Jaina Ethics the way through which the ultimate end can be achieved is also Samatā which is known in prākṛta as samāhi or samāi. In this way three basic presuppositions of Jaina Ethics, the moral agent, the ultimate end and the path through which this ultimate end can be achieved, are equated with the term

equanimity or samatā. In jaina Ethics ends and means do not exist as something external to the moral agent; they are part and parcel of his own real nature. By means of sādhanā we can actualize what is potentially present in us. According to the Jaina view equanimity (samatā) is our real potential nature and sādhanā is nothing but practice of equanimity. The three-fold path of right knowledge, right attitude or belief and right conduct solely depends on the concept of equanimity (samatā) for their rightness. The three-fold path is only an application of equanimity in the three aspects of our consciousness. According to Jainism, equanimity should be a directive principle of the activities of knowing, feeling and willing.

What is the justification for saying that our essential nature or our aim of life is samatā or that samatā should be the directive principle of our life and what are the grounds for its justification : To answer these questions first of all we must understand human nature. By human nature we mean man's organic and psychological make-up. What do you mean by a living organism ? By living organism we mean an organism that has the power to maintain its physiological equilibrium. In Biology this process is known as homeostasis, which is considered as an important quality of living organism. The second essential quality of a living organism is its capacity for adjustment to its environment. Whenever a living organism fails to maintain its physiological equilibrium and to adjust itself to its environment, it tends towards death. Death is nothing but an utter failure of this process of maintaining equilibrium. Thus we can say that where there is life there are efforts to avoid unequlibrium and to maintain equilibrium.

Psychologically nobody wants to live in a state of mental tension. We like relaxation and not tension, satisfaction and not anxiety; this shows that our psychological nature working in us is for mantal peace or mental equanimity or for the adjustment between these two poles of our personality, the ideal and the real. It is a fact that there are mental states such as emotional excitements, passions, anxieties and frustrations, but they do not form our essential nature because they do not exist for there own sake.Either they seek there satisfaction from some external objects or we want to get rid of these

mental states. They are thus, the resultant expressions (ibhāva) of our self. An important process or our life is the process of adjustment, and at the mental level adjustment is nothing but a process or restoring mental peace, harmony and integration. In this way we can say that the Jaina concept of equanimity or 'samatva' as the real nature of souls has a sound ground for its justification in our organic and psychological nature also.

Darwin suggested that the "struggle for existence is the basic principle of living." Apparently it is true that there is a struggle for existence in our world and nobody can deny this fact. But owing to certain reasons we cannot call this a directive principle of living. First of all this theory is self-contradictory, because its basic slogan is 'live on others', in other words, it prescribes 'living by killing'. Secondly, it is opposed to the basic human nature and to even animal nature to a certain extent. The theory 'live on others' is against the simple rule that all living beings or human beings are potentially equal. The concept of equality of all living beings (Samatā) can only give us a right directive principle of living with fellow beings. The directive principle of living is not "live on others" but "live with others" or "live for others". The famous Jaina philosopher Umāsvāti in his Tattvārtsūtra maintains that the nature of Jiva is to serve one another (Parasparopagrho jīvānām, 5.21). Struggle is not our inner nature but it is only a resultant nature, it is imposed on us by some outer factors. Whenever we have to struggle we struggle under compulsion and whatsoever is done under compulsion cannot be a guiding principle of our living, because it does not blow out from inner nature. In the Ācārāṅga (1.8.3) also equanimity has been referrred to as the essence of religion (Dharma). This equanimity or balanced state of mind is the greal nature of self. According to Jainism, Dharm is nothing but the fundamental nature of a thing (vatthu sahāvo dhammo, Kārtikeyānuprekṣā; 478) Jainism maintains that an ideal, which differ from one's own nature, cannot be realised or actualised; one's essential nature (savalakṣaṇa) alone can be our ideal.

It is true that dialectic materialism takes conflict or struggle as the law of life and states that the history of man is a history of class-conflict, but this concept is erroneous. No conscious and living being

tends to continue in a state of conflict, it rather seeks to put an end to a conflict as it arises. Since struggle or conflict is something to be get rid of, it cannot be regarded as the real nature of soul. The main drive of life is towards putting an end to mental tensions (arising from external and internal stimuli) and returning to a state of mental equanimity. That is why Jainism maintains that equanimity is the real nature of self and calls it Dharma. It is also true that in Jainism the basic aim of religious aspirations is to put an end to such mental disequilibriums or tensions as attachment and the sense of mine beget attraction and repulsion and cause mental tension or disturb equanimity of mind. An attached man identifies not-self as self, whereas an unattached and dispassionate person regards self as self and not-self as not-self and thus maintains mental equanimity.

According to Jainism the attainment of mental equanimity is the ultimate objective of man. It is in this state that consciousness can be free from constant flickerings and attain peace which again is a pre-condition for spiritual happiness which Jainism marks out as the goal of life and is possible alone in the state of equanimity. This comes down to the statement that the dispassionate stage of mind (vītarāgatā) or the equanimity of mind itself is alone the goal of life. This state of consciousness is also known as a state of pure knowership (Sākṣībhāva or draṣṭābhāva) which is the real nature of self and its attainment is the ultimate aim of life.

The Identity of Self with End and Means

In Jainism the aspirant, the end and the means are regarded as identical to self. Each member of the trinity is a manifestation of self. The Adhyātma-tattvāloka (41.7) mentions that self is both-- the binding network of the phenomenal universe (saṁsāra) and salvation from it. It remains in bondage so long as it is conditioned by the Karmas and under the domination of senses and passions, but when it has full control over them, it is emancipated. In his commentary on Samayasāra (305) Ācārya Amṛtacandrasūri says, "Emancipation (Mukti) consists in the exclusion of para-dravya. i.e. Karma and the realisation of one's own real nature. Ācārya Hemcandrasūri also maintains in his famous work Yogaśāstra 9415). "The self which is

conditioned and overwhelmed by the senses is in bondage and the self, which has control over them, is called the emancipated or the enlightened one. In fact, the self being yoked to desires constitutes bondage and when the desires are shed, the self appears in its pristine purity, it is emancipated. The Jaina view of the spiritual goal is that it is within the aspirant and not outside. What is realised by spiritual practices is not an external object, but the full manifestation of one's inner potentialities of self remain same at the beginning of the quest and at its end; the difference lies in the realisation or actualisation of these potentialities. Just as a seed is capable of being developed into a tree, and it actualises his capability when it is really grown in the form of a tree, similarly the soul (ātmā) which has the potentiality of being the Supreme-Soul (paramātmā), becomes perfect by realising its potentialities of infinite knowledge, infinite perception, infinite bliss and infinite power. According to Jainism salvation lies in the full development of our potentialities. The mission of Jainism is the realisation of the self through the self. The godhood which is already present in the self has to be manifested and the soul has to be brought to its purity. Thus the spiritual journey of soul starts form impure state of the soul and ends with the pure state of the soul (Śuddhātma).

From the Jaina view-point the path of liberation is also not different from the self. The three aspects of our consciousness-cognition, affection and conation, when rightly oriented constitute the path of emancipation. In the Jaina philosophy, the three-fold path of liberation consists of right knowledge (Samyak-jñāna), right belief (Samyak-darśana) and right conduct (Samyak-cāritra). This implies that the congnitive, affective and conative wings of the self, processed into right knowledge, right belief and right conduct, appear to be the real path. Thus considered, the path of emancipation is also soul-stuff. As Ācārya Kundakunda puts it :

Ādā khu majjhaṇāṇaṁ ādā me daṁsaṇaṁ carittaṁ ca
Ādā paccakkhāṇaṁ ādā me saṁvaro jogo.
Daṁsaṇaṇa carittāṇi sevidavvāṇi sāhuṇā ṇiccaṁ.
Tāṇi puṇa jāṇa tiṇṇvī appāṇaṁ ceva ṇicchayado.

(*Samayasāra, 18.19*)

Right knowledge (Jñāna), right faith (Darśana), renunciation (Pratyākhyāna), Discipline (Saṁvarao) and yoga are the means to realize the real nature of the self. The same self (soul) is in knowledge, perception, renunciation, discipline and Yoga. What appears as knowledge, faith and conduct is no other than the self. From practical view-point (Vyavahāranaya) they are said to be different from the self, but from real view-point (niścaya-naya) they are one and same with self. Right faith, knowledge and conduct should always be pursued by a saint, but he must know that all these three from real view-point are the self itself. Thus we can say that Jainism is based on the spiritual foundation of the self realisation i.e. Ātma-sākṣātkāra.

